प्रवचन :

आचार्य विद्यासागर

प्रस्तुति :

वीरेन्द्र सिंघई

आचार्य प्रभु/मेरे गुरु

चतुर्दशी थी! प्रतिक्रमण का पावन दिवस! हजारों सर्व-साधारण स्त्री-पुरुष और बालक वहाँ उपस्थित थे।

···हठात् जय-जयकारों की प्रतिध्वनियों से आकाश गुंजायमान हो उठा।

···औचक ही मंदिर की सीढ़ियों पर, हजारों-हजार आँखों ने देखा एक जातरूप-नग्न दिगम्बर पुरुष। और सम्मोहित हो सहस्रों-सहस्रों नर-नारी उस दिगम्बर पुरुष, आचार्य प्रभु के चरण-कमलों में उमड़ते चले गये।

···और पर्वतीय अचलों से अविरल बहते जल-स्रोतों, उनसे अविरल उठती कल/कल-छल-छल ध्वनियाँ, वन-कान्तारों से होकर गुजरती अल्हड़ हवाओं के झोंके और बुन्देली माटी के कण-कण उन श्री चरणों में विसर्जित होने को बेचैन हो उठे।

···कहीं कोई दुराव नहीं सब सहज होता चला गया।

···क्षण-भर ठहर कर मंद स्पष्ट स्वरों में प्रवचन की भावभीनी स्वरलहरियाँ उठने लगीं और समग्र वायुमण्डल में, रह-रहकर शब्द गुंजायमान होने लगे—निराकुलता जितनी-जितनी जीवन में आये, आकुलता जितनी-जितनी घटती जाये उतना-उतना मोक्ष आज भी है।

···और मौन व्याप गया।

ये ही 'प्रवचन-ध्वनियाँ'/शब्द अब अक्षर रूप/(प्रवचन पारिजात रूप) आपके समक्ष आ रहे हैं।

वात्सल्य-मूर्ति आचार्य श्री भविष्य में आप्त पद प्राप्त करें। यही महावीर प्रभु के चरणों में विनम्र प्रार्थना है।

'विद्या' गुरु मेरे, मेरे मन, मेरे नमन, हर क्षण!

परिणमन
परिणमन औ'
अनुगमन
हर क्षण !
मन उन्मुक्त
भुक्त
मुक्त
हर क्षण !
तू अविराम
अशान्त
अक्लान्त
हर क्षण !
'समयसारा'
समयधारा
समय नव्य
हर क्षण !
मै श्रमण
और रमण
आत्म-रमण
हर क्षण !
तू अपना चेतन
अपना बन
फिर परिणमन
हर क्षण !
'विद्यासागर' गुरु मेरे
मेरे मन
मेरे नमन
हर क्षण !

—वीरेन्द्र सिंघई

आद्य मिताक्षर

श्री सिद्ध क्षेत्र रेशन्दीगिरि के चातुर्मास के समय पूज्यवर श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी महाराज की हितावह देशना सुनने के लिये अपार जनता का आगमन होता था। नर-नारियों का समूह गिरिराज की वन्दना करता और पूज्य महाराज के प्रवचन सुन अपने आप को धन्य मानता था। इसी चातुर्मास के समय स्याद्वाद शिक्षण परिषद् द्वारा क्षेत्र पर एक शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया। स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के संस्थापक श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक सन्मति सागरजी भी यहीं विराजमान थे। पूज्य आचार्य महाराज का सन्निधान शिविर का सर्वोपरि आकर्षण था। लगभग ५०० बालकों ने शिविर के माध्यम से विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त की थी।

इसी शिविर मे पूज्य आचार्य महाराज ने सात तत्त्वों पर सारगर्भित प्रवचन दिये थे। जीव और अजीव तत्त्व का वर्णन एक ही दिन सम्मिलित रूप से किया था और शेष पाँच तत्त्वों का वर्णन एक-एक कर पाँच दिनों में किया था। सब प्रवचन टेप किये गये थे। टेप किये प्रवचनों की प्रतिलिपि श्री सिघई वीरेन्द्रकुमारजी (वर्तमान में पूज्य श्री क्षु० क्षमासागर) ने बडी तत्परता से की थी। प्रवचन के विस्तृत विवेचनों को परिष्कृत कर उन्हें प्रकाशन की स्थिति मे प्रस्तुत करने का श्रम धर्मप्रेमी श्री उत्तम चन्द्रजी एडवोकेट, व्याख्याता, गौड नाइट कालेज, सागर ने किया।

प्रवचनो मे पूज्य महाराजजी ने प्रतिपाद्य विषय का अनेक उदाहरणों के साथ सुन्दर प्रतिपादन किया है। जन्मना हिन्दी भाषा-भाषी न होने पर भी पूज्य महाराजजी ने हिन्दी भाषा का इतना अच्छा अभ्यास कर लिया है कि प्रवचन सुनकर कोई यह शंका नहीं कर सकता कि वे जन्मना हिन्दी भाषा-भाषी नही हैं। उनकी भाषा में प्रवाह के साथ ओज भी है और प्रतिपाद्य विषय का दृढ़ता के साथ समर्थन किया है।

इन प्रवचनो का प्रकाशन बहुत पहले हो जाना चाहिये था परन्तु मेरे देखने की प्रतीक्षा मे आशातीत विलम्ब हो गया।

इन प्रवचनों का प्रकाशन 'प्रवचन पारिजात' के नाम से किया जा रहा है; आशा है, वे पारिजात के समान ही अपनी गरिमापूर्ण सुरभि से प्रत्येक पाठक के हृदय को प्रमुदित करेंगे।

सागर
२०-१-१९८०

—पन्नालाल साहित्याचार्य

प्रकाशकीय

बुन्देलखण्ड की पुनीत भूमियों मे रेशंदीगिरि (नैनागिरि) एक ऐसी पावन भूमि है, जहाँ भगवान् पार्श्वनाथ का समवशरण आया और उनकी दिव्य वाणी से अनेक जीवों का कल्याण हुआ।

भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाणोत्सव के बाद ईस्वी सन् १९७८ मे आचार्यश्री १०८ विद्यासागरजी महाराज ने इसी स्थान पर ससग चातुर्मास स्थापित किया। इसी चातुर्मास के अतर्गत सागर नगर में वर्षायोग धारण किए श्री १०५ क्षु. सन्मतिसागरजी आचार्य संघ दर्शनार्थ सिद्धक्षेत्र श्री रेशदीगिरिजी पहुंचे। इस समय क्षुल्लकजी से प्रेरणा पाकर इस नगर एवं जिले के अंतर्वर्ती अनेको नवयुवकों में धार्मिक चेतना बढ़ी और स्याद्वाद् शिक्षण परिषद के तत्त्वावधान मे एक शिक्षण शिविर का आयोजन इस क्षेत्र पर किया गया।

सप्तदिवसीय यह शिविर शरद पूर्णिमा की शुभ्र ज्योत्सना मे विलीन हो गया। इस सुअवसर पर आचार्यश्री द्वारा उद्‌भूत सात प्रवचन हुये जिसमे जीव और अजीव तत्त्व सम्मिलित होकर शेष विषयों पर आचार्यश्री द्वारा स्वतत्र निरूपण हुआ।

शिविरार्थी एवं आत्महितार्थी श्रोताओ ने वीरवाणी को हृदयंगम किया, सुना और सराहा। उसी शिविर के शिविरार्थी स्नातक सिंघई वीरेन्द्रकुमार (एम. टेक) ने इन प्रवचनो का सकलन टेप के माध्यम से लिपिबद्ध किया और परिषद् के संरक्षक आदरणीय डॉ पन्नालालजी को संशोधनार्थ वे सभी प्रवचन दिए। मोक्ष तत्त्व का विवेचन तत्समय सागर पधारे हुये डॉ नेमीचन्दजी सपादक "तीर्थंकर" अपनी "तीर्थंकर" मासिक पत्रिका मे प्रकाशनार्थ ले गये। शेष सभी संशोधित प्रवचन मुनिसंघ स्वागत समिति, सागर को प्राप्त हुये। इस सब मे भाई उत्तमचदजी एडव्होकेट का सहयोग भी प्रशसनीय रहा। मुनि सघ स्वागत समिति, सागर ने "प्रवचन पारिजात" रूप इन प्रवचनो का प्रथम सस्करण जून १९८० मे नईदुनिया प्रेस, इन्दौर से मुद्रित करवा कर पाठको के करकमलो मे दिया। आत्मार्थी, धर्मप्रेमी पाठको को यह कृति इतनी रुचिकर हुई कि लगभग ६ माह के अदर ही इसकी सभी प्रतियाँ समाप्त हो गई और अनेक स्थानों से इसकी माग के पत्र आने लगे। तभी समिति को इस पर विचार करने को बाध्य होना पडा।

"प्रवचन-पारिजात" यथार्थ मे १३५ पृष्ठीय प्रथम संस्करण सरल और सुबोध भाषा मे इतना सुन्दर बन सका, यह सब आत्मचिंतन की गहराइयो मे उतरे आचार्यश्री विद्यासागरजी की ओजस्वी और तेजस्वी वक्तृत्व शैली का ही प्रतिफल है। हजारो ने सुना, पढा और सराहा। इन सबो के बीच इन प्रवचनो के संकलनकर्ता सिंघई वीरेन्द्रकुमारजी ऐसे श्रोता निकले जिन्होंने सुना, सकलन किया और जीवन मे उतारा। वर्ष १९८० की जनवरी १० को उसी पावन भूमि रेशदीगिरि पर वीरेन्द्रकुमार

ने क्षुल्लक दीक्षा आचार्यश्री से ग्रहण की। इससे सागर नगर ने अपने को धन्य माना। उन्हीं की दीक्षा की प्रथम वर्षगांठ १० जनवरी '८१ को "प्रवचन-पारिजात" का द्वितीय संस्करण उन्हीं के करकमलों में जो अब एक वर्ष के अंदर प्रगति के दूसरे चरण मे ऐलक पद प्राप्त कर चुके हैं, देते हुये समिति गौरव और हर्ष का अनुभव करती है।

प्रथम संस्करण के बाद इस द्वितीय संस्करण मे एक और विशेष प्रवचन जो आचार्यश्री द्वारा "षट्खण्डागम-वाचना-समारोह" सागर में हो रही विद्वत् परिषद् की बैठक के अंतर्गत "अनेकान्त" विषय पर दिनांक १४-६-८० को दिया गया, सम्मिलित किया जा रहा है। अनेकान्त जैसे दुरूह विषय का सुन्दर और स्पष्ट प्रतिपादन वस्तु-स्थिति की सही जानकारी एवं उसके माध्यम से सुख की प्राप्ति का एक स्पष्ट उद्घोषण इस प्रवचन मे महाराजश्री ने किया है और अंत मे "एज यू लाइक" कहकर एकान्त को ललकारा है। इस प्रवचन का संपादन डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी प्राध्यापक, जोधपुर विश्वविद्यालय ने करके इस समिति के प्रति अपने स्नेह और आचार्यश्री के प्रति अपनी भक्ति का परिचय दिया है। समिति आपका आभार मानती है।

आचार्यश्री विद्यासागरजी का आभार शब्दो मे मानना कठिन है। जन-जन का मस्तक उनके चरणो मे श्रद्धावनत ही होता है। समिति आभारी है सहयोगी भाई सन्तोषकुमारजी बैटरी वालों की जिनके अथक परिश्रम से ये प्रकाशन संभव हो सके। धन्यवाद करती है, सभी सहयोगीजनो का। आशा है, पाठकगण इन सभी प्रवचनों से लाभान्वित होंगे व श्रावको की आध्यात्मिक रुचि को बढ़ाने में यह कृति माध्यम बनेगी।

समिति आभारी है डॉ प पन्नालालजी की, जिन्होंने इन सभी प्रवचनो को आद्योपान्त वाचन कर समयोचित संशोधन सहित समुचित सहयोग प्रदान किया एवं भूमिका लेखन मे सहयोगी बने।

हमारे प्रकाशन के परम सहयोगी डॉ नेमीचन्दजी जैन संपादक "तीर्थंकर" इन्दौर की यह समिति अत्यन्त आभारी है जिनकी सबल लेखनी, प्रबल श्रमण भक्ति, अनेक उनके द्वारा लिखे गए लेखो, ग्रन्थों एव पत्रिकाओ से परिलक्षित होती है।

श्री हीरालालजी झांझरी (व्यवस्थापक नईदुनिया प्रेस) को भुलाया नही जा सकता, जिनकी तत्परता एव समुचित व्यवस्था इन सब प्रकाशनों मे दृष्टिगत होती है। अत· धन्यवाद के पात्र है।

विनम्र
सिं जीवेन्द्रकुमार
अध्यक्ष, मुनि संघ स्वागत समिति
सागर (म. प्र.)

१० जनवरी, १९८१

क्रम

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसि पढमं होइ मंगलं ।।

मेरे प्रभो, मेरे गुरो !

(आचार्य श्री विद्यासागर)

ज मगमिर शुक्ल १५, वि स २००३

मु दी आषाढ सुदी ५, वि स २०२५

आ प मगसिर कृष्ण २, वि स २०२९

क्षु श्री क्षमासागरजी; दीक्षा-१० जनवरी १९८०;
दीक्षा-स्थल सिद्धक्षेत्र नैनागिरि, सागर, मध्यप्रदेश

सिघई वीरेन्द्रकुमार (दीक्षा की प्रार्थना करते हुए)

जीव-अजीव तत्त्व

ओम् नमः सिद्धेभ्यः !

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।।

अभी आपके सामने जो मंगलाचरण किया गया है वह आचार्य अमृतचंद्रजी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के प्रारंभ में किया है। इसमें आचार्यश्री ने उस कारण को नमस्कार किया है जिस कारण से भगवान्, भगवान् कहलाते है।

आचार्य कहते है कि वह ज्योति जयवंत रहे जिस ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ अपनी भूत, भावी एवं वर्तमान पर्यायों-सहित स्पष्ट झलक रहे है। वास्तव में जब हम गुणों की आराधना करते है तो गुणी की आराधना अपने-आप हो जाती है। कहने का अर्थ यह है कि आराधना भी जीवत्व गुण के ऊपर अवलंबित (निर्धारित) है; इसलिये हम सभी जीव है या नही, यह हमे अपने आप मे टटोलना चाहिये, क्योंकि हम जीव है फिर भी हमारी आराधना नही हो रही है। बल्कि आराधना के स्थान पर विराधना हो रही है। पर ऐसा क्यों ? यूं हो सकता है, हम जीव है इसलिये जीवत्व भी हमारे पास है ही, लेकिन बन्धुओ ! ध्यान रखो यहां जिस जीवत्व की आवश्यकता है उसका अभाव है।

सात तत्त्वो मे जीव तत्त्व को प्रथम स्थान मिला है; क्यों ? आचार्यों ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रत्येक तत्त्व का भोक्ता केवल जीव ही है। यद्यपि कर्म भी एक तत्त्व है परन्तु तत्त्व होकर के भी वह भोक्ता नही है। भोक्ता का अर्थ यहाँ संवेदन करना है; इसलिये मुक्ति जो मिलेगी वह जीव तत्त्व को ही मिलेगी क्योकि वही उसका संवेदन कर सकता है। पुद्गल तत्त्व को नही मिलेगी। मिल भी जाय तो उसका संवेदन उसे नहीं हो सकेगा, अत मिल जाने पर भी वह पुद्गल क्या करेगा; भइया ! इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे पास जीवत्व होते हुए भी, जो जीवत्व चाहिये वह नही है, अर्थात् यह भी सिद्ध हो गया कि यदि गुण की अपेक्षा हम आराधना मानते है तो हमारे पास गुण नहीं है।

आप पूछ सकते हैं कि गुणों का अभाव हो जायेगा तो द्रव्य ही उड़ जायेगा महाराज! तो भइया! गुणों का अभाव तो नहीं होगा यह मैं भी जानता हूँ; लेकिन जीव के गुणों की विशेषता है कि वे अभाव को तो प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु विलोम हो जाते हैं। जिन्हें कहते हैं दुर्गुण या विभाव। हम वर्तमान में जीव हैं इसलिये हमारे पास जीवत्व गुण भी है लेकिन ध्यान रखिये, वह जीवत्व विलोम स्थिति में है उसका परिणमन विभाव रूप में हो रहा है। आचार्य कहते हैं कि स्वभाव से विपरीत परिणमन होने का अर्थ ही है विभाव। और विभाव का अर्थ है एक दृष्टि से जीवत्व का अभाव। जो आवश्यक है उसका अभाव है, इसलिये जीवत्व का ही अभाव है और जीवत्व का अभाव है इसलिये जीव का अभाव कह दें तो कोई आश्चर्य नहीं है। रात और दिन का जिस प्रकार विरोधाभास है उसी प्रकार स्वभाव और विभाव के साथ भी हो रहा है। रात है तो दिन नहीं और दिन है तो रात नहीं। उसी प्रकार स्वभाव रूप परिणमन है तो विभाव नहीं और विभाव रूप परिणमन है तो स्वभाव नहीं, इसलिये वर्तमान में जीवत्व का अभाव है और जीवत्व की विराधना हो रही है आराधना नहीं। इसलिये अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है कि मैं उस ज्योति को नमस्कार करता हूँ जिस ज्योति में तीन लोक के चराचर पदार्थ दर्पण-बिम्ब के समान झलक रहे हैं।

अतः अपने को उस जीवत्व को प्राप्त करना है जिस जीवत्व के साथ जीवन है। वह जीवत्व किसे प्राप्त हो? वह जीवत्व कैसे प्राप्त हो? क्या हमें प्राप्त हो सकता है? अवश्य प्राप्त हो सकता है। जिन कारणों से विभावरूप परिणमन हुआ है, हमने किया है, यदि उनके विपरीत कारण मिल जाएं तो वह स्वभावरूप परिणमन भी कर सकता है। यह ध्यान रक्खो कि यह विभाव रूप परिणमन किसी अन्य शक्ति ने या अन्य व्यक्ति ने जबरदस्ती कराया हो—ऐसा नहीं है। स्वयं जीव के पास इस प्रकार की विशेषता है कि वह स्वयं ही उस विभाव रूप परिणमित होता है और इसके लिये बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल इत्यादि निमित्त अवश्य हैं, अतः वर्तमान में हमारा जीव तत्त्व बिगड़ा हुआ जीव तत्त्व है।

कुछ समझ में नहीं आता महाराज! कुछ लोग तो कहते हैं कि जीव तो जैसा-का-तैसा बना रहता है और उसमें जो परिणमन होता है वह

ऊपर-ऊपर हो जाता है। इसलिये जीव तो शुद्ध है, क्योंकि द्रव्य है और उसकी जो पर्याय है वह बिगड़ी हुई है। परन्तु ध्यान रखो आप लोग कि जीव तत्त्व ज्यों-का-त्यों बना रहे शुद्ध, और उसकी पर्याय अशुद्ध हो, ऐसा हो नहीं सकता और यदि ऐसा हो जाये तो वे पर्यायें उस विशुद्ध तत्त्व से बिल्कुल तटस्थ हो जायेंगी और ऐसी दशा में पृथक् हो जायेंगी, तो यूँ कहना चाहिये कि जीव का अभाव ही हो जायेगा क्योंकि पर्यायें किसी में से तो उद्भूत हुई ही हैं। चूँकि 'गुणसमुदायवद् द्रव्यं' कहा है अतः द्रव्य भी अशुद्ध ठहरेगा। इसलिये यदि पर्याय अशुद्ध है तो द्रव्य भी अनिवार्य रूपेण अशुद्ध है किन्तु; यह ध्यान रखना कि वर्तमान में जो पर्याय अशुद्ध है वह पर्याय तो शुद्ध नहीं बन सकेगी किन्तु वर्तमान में जो अशुद्ध द्रव्य है वह द्रव्य शुद्ध बन सकता है। उसके पास शक्ति है। यद्यपि उस द्रव्य का परिणमन वर्तमान में वैभाविक रूप में हुआ है और वह भी समूचे द्रव्य का। कुछ प्रदेश शुद्ध रहे हों और कुछेक प्रदेश अशुद्ध रहे हों ऐसा नहीं है।

अशुद्ध परिणमन का प्रभाव पूरे द्रव्य के ऊपर पड़ा है और द्रव्य ही पूर्णरूपेण परिणमन कर रहा है। ऐसी स्थिति में पर्याय अशुद्ध है तो गुण भी अशुद्ध है, गुण अशुद्ध है तो द्रव्य भी अशुद्ध है; लेकिन यह ध्यान रक्खो कि वह द्रव्य शुद्ध बनने की भी शक्ति रखता है जैसे कि वह अशुद्ध बन गया है। इसी अपेक्षा से आचार्यों ने कहा है कि द्रव्य कथंचित् शुद्ध है। आप कह सकते हैं कि द्रव्य शुद्ध ही है और पर्याय अशुद्ध रहे इससे अपने को क्या हानि ? पर भइया ! यदि द्रव्य भीतर से शुद्ध ही है और शुद्ध है तो मुक्त भी है और मुक्त है तो केवलज्ञान का अनुभव भी होना चाहिये, लेकिन अभी अपने पास एक अक्षर का भी तो ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि सारा-का-सारा द्रव्य ही बिगड़ा हुआ है। 'स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः।'

स्वभाव से विलोम स्थिति हो चुकी है, और मैं यह पहले ही बता चुका हूँ कि जिस प्रकार विरोधाभास रात और दिन के साथ है उसी प्रकार वह स्वभाव और विभाव पर्याय के एक साथ होने में भी है।

जिस समय स्वभाव पर्याय की अभिव्यक्ति होगी उस समय विभाव पर्याय की वहाँ पर अभिव्यक्ति नहीं रहेगी; तो जीव को शुद्ध जीवत्व

की प्राप्ति कैसे हो? इसीलिए आचार्यों ने मोक्षमार्ग के अन्तर्गत जो तत्त्व हैं उन तत्त्वों का उल्लेख किया। इनको जो व्यक्ति अपने जीवन में शान्ति के साथ जान लेता है और अपने मे होने वाली वैभाविक प्रक्रिया के बारे में अध्ययन करता है वह व्यक्ति स्वभाव को प्राप्त करने का जिज्ञासु कहलाता है। इसके बिना उसे जीवत्व की प्राप्ति सभव नही है; क्योंकि वह व्यक्ति माँगता ही जा रहा है और उसे अपने स्वरूप का भान नही है।

एक याचक व्यक्ति एक सेठ के पास गया, वह सेठ उस व्यक्ति के पिता का दोस्त था। उसे करुणा आती है और वह कहता है कि बेटा! तुम्हारे पिताजी का मेरे साथ घनिष्ठ संबंध था। हम दोनो दोस्त थे; किन्तु व्यवसाय के कारण क्षेत्रान्तरित हो गये है, लेकिन मैं तुम्हें पहचान गया हूँ। तुम्हारे पिताजी मुझे बता कर गये थे कि मेरा लड़का जब बड़ा हो जाये, तो घर मे जो धन पैसा गाढ़ रक्खा है वह बाद मे उसे बता देना। अब तुम बडे हो गये हो अतः मैं बता रहा हूँ। इस तरह जब उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है तो वह याचना करना बन्द कर देता है और अपने घर को टटोलता है। इसी प्रकार हम इस समय विभावरूप परिणमन कर रहे है, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि अब अनंतकाल तक हम याचक ही बने रहें। हम सेठ-साहूकार भी बन सकते है, हम अपने पैरों पर खड़े भी हो सकते है, **हमारी शक्ति अनंत है, किन्तु उस शक्ति का उद्‌घाटन आवश्यक है और उस शक्ति का उद्‌घाटन हम तभी कर सकेंगे जबकि वर्तमान में, "मेरी यह विभावरूप स्थिति हो गयी है"—ऐसा विश्वास कर लेंगे।** अन्यथा ध्यान रक्खो उसका भी उद्‌घाटन नही होगा। अपने-आप को जो व्यक्ति बंधा हुआ अनुभव नही करता वह मुक्ति की जिज्ञासा तीन काल मे भी नही रखेगा, यह भी ध्यान रक्खो। मुक्ति के ऊपर विश्वास उसी को हो सकता है जो बहुत जकडन का अनुभव करता है क्योंकि "बधसापेक्षैव मुक्ति. मोक्ष"। बन्ध की अपेक्षा ही मुक्ति रहती है बल्कि यो कहिये बध का अभाव ही मुक्ति है। इस बध का अभाव अपने आप नहीं होगा। इसलिए वर्तमान मे इस जीव का समूचा विलोम परिणमन हो चुका है। एक द्रव्य में प्रत्यक गुण की जो पर्यायें है वे पर्यायें गुणों के साथ क्षणिक तादात्म्य सम्बन्ध रखती है। और "गुणसमुदायवद् द्रव्यं" इस प्रकार जो सम्बन्ध द्रव्य के साथ गुण का है वही सम्बन्ध पर्याय का भी द्रव्य के साथ है। ये सारे-के-सारे आपस

में सम्बन्धी हूँ। व्याख्या के लिए संज्ञा संख्या प्रयोजन की अपेक्षा से व्याख्यान भिन्न-भिन्न किया जाता है; अतः वर्तमान में जीव ही बिगड़ा है यों कह रहा हूँ। आप कह सकते हैं कि इस पर हमारा विश्वास नहीं है महाराज! तो कोई बात नहीं, जबरदस्ती तो मैं विश्वास करा नहीं सकूँगा किन्तु आप भी जबरदस्ती मेरे मुख से सिद्धान्त के विपरीत उल्लेख नहीं करा सकोगे। मैं भी तो उतना ही स्वतन्त्र हूँ भइया! अब आपको इतनी स्वतन्त्रता मिली है तो हमको भी तो है। आप सिद्धान्त का प्ररूपण समझें, देखें और सुनें तो कम-से-कम आपकी यह बुद्धि इस प्रकार सुलझ सकती है। मात्र एकान्त रूप से पर्याय ही अशुद्ध है, द्रव्य तो एक शुद्ध पिण्डरूप सिद्ध परमेष्ठी के समान है ऐसा हम मान लेंगे तो अपने लिए तो कोई भी बाधा नहीं है लेकिन इस आने वाली बाधा का भी आपको कम-से-कम जवाब तो देना ही पड़ेगा। एक व्यक्ति ने मुझे आकर कहा कि जीव तो बिल्कुल शुद्ध है महाराज, मात्र उसकी पर्याय और वह भी जो बिल्कुल क्षणिक है अशुद्ध है, द्रव्य तो त्रैकालिक शुद्ध पिण्ड बना हुआ है। अच्छा! बहुत अच्छा है! परन्तु यदि एक व्यक्ति आकर सामने वाले पेड़ को साष्टाङ्ग नमस्कार करता है—"हे शुद्ध परमात्मने नमः" कहता है तो आप लोगों को कोई आब्जेक्शन (Objection) नहीं होना चाहिए और आप उसकी आलोचना, उसकी निन्दा भी नहीं कर सकते; क्यों? हम तो करेंगे, वह तो बिल्कुल सफेद गृहीत मिथ्यात्व है काला भी नहीं, बिल्कुल सफेद। क्योंकि वह सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की वन्दना नहीं कर रहा है। जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की वन्दना करता है वह तो सम्यग्दृष्टि होता है। पर यह तो अलग ही बात कर रहा है और इसलिए यह तो बिल्कुल गृहीत मिथ्यादृष्टि है महाराज! मैंने कहा वह यह जबाव दे सकता है, सुनो, उसी की तरफ से मैं जवाब देता हूँ; देखो! वह गलत नहीं है, बिल्कुल ठीक है—वह यह कह रहा है कि मेरी दृष्टि में तो द्रव्य है और द्रव्य तो त्रैकालिक शुद्ध है सिद्ध परमेष्ठी को मैं नमस्कार क्यों करूँ, प्रत्येक द्रव्य ही शुद्ध है इसलिये जो शुद्ध हैं तो शुद्ध को तो नमस्कार करना ही चाहिए। इसलिए इन अनेक प्रकार की आपत्तियों को यदि हम दृष्टि में लाते हैं तो मालूम पड़ता है कि उसको (वृक्ष को) हमने जीव माना, जीव माना तो एक इंद्रिय माना, एक इन्द्रिय माना तो आगम के अनुरूप उसको मिथ्यादृष्टि माना और मिथ्या-

दृष्टि को सम्यग्दृष्टि नमस्कार नही कर सकता। इस प्रकार द्रव्य को त्रैकालिक शुद्ध मानकर आपने अनुमान तो बना लिया लेकिन इस पंक्ति को आप भूल गये न, शास्त्र में यह भी तो लिखा है कि पर्याय अशुद्ध है। द्रव्य तो शुद्ध है और उस शुद्ध की हम आराधना कर रहे हैं; लेकिन वास्तव में ऐसा नही है। और दूसरी बात यह है जब द्रव्य शुद्ध है तो उसके पास पूज्यता के लिए शुद्ध पर्याय भी तो चाहिए। आचार्य अमृतचद्र सूरिजी कह रहे हैं कि वह ज्योति जयवत रहे और वह पूजनीय है तो ज्योति शुद्ध है और क्योंकि ज्योति भी पर्याय है तो पर्याय के साथ द्रव्य भी वहाँ पर शुद्ध है; इसमें कोई संदेह नही और इसको गौण कर देंगे तो सारी-की-सारी व्यवस्था विचलित हो जायेगी। कोई सम्यग्दर्शन नही रहेगा, कोई मिथ्या-दर्शन नहीं रहेगा और दूसरी बात मैं यह कहता हूँ कि आप लोगों की वन्दना और वन्द्य-वन्दक भाव जितने भी चलते हैं वे शुद्ध द्रव्य के साथ नही चलते, यह भी ध्यान रक्खो लेकिन अशुद्धत्व से शुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए जो चल पड़े है उनको देखकर यह नमस्कार, वन्दना, पूजा-अर्चा और स्तवनादि हुआ करते है। यह ध्यान रक्खो! सिद्ध परमेष्ठी बिल्कुल शुद्ध जीवत्व को प्राप्त हो चुके है इसलिए अमूर्त हैं और अमूर्त की पूजा करने के लिए अपने पास क्षमता है ही नही तो मूर्ति की ही पूजा करेंगे, पहचानेंगे क्योंकि पहचान मूर्त (मूर्ति) के माध्यम से होती है और यूँ कहना चाहिये सर्वप्रथम मूर्त की ही पहचान करके हम उसी में जीवत्व की कल्पना करते हैं। अरहंत परमेष्ठी मूर्त है और शुद्ध जीव नही हैं तो हम उनकी आराधना करेंगे या नही, बोलो करते है कि नही? एकाध व्यक्ति नही करे तो कोई बात नही; लेकिन जो प्रधान पच परमेष्ठियों मे आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु हैं वे कुदकुद जैसे आचार्य भी अरहंत परमेष्ठी को सिद्ध परमेष्ठी से पहले स्मरण करके अरहंत परमेष्ठी को मुख्यता देते है और उनको नमस्कार करते हैं उनकी वन्दना करते हैं और परोक्ष यही पर बैठे-बैठे जो विदेह मे स्थित सीमंधर स्वामी आदि हैं उनको भी नमस्कार करते है और मनीआर्डर से उन्हें नमस्कार का आशी-र्वाद भी प्राप्त हो जाता है तुम लोगों को नही, यह ध्यान रखना। अरहंत परमेष्ठी क्यों अशुद्ध हैं अभी? यह ध्यान रक्खो जो शुद्ध होता है वह कृतकृत्य होता है जो कृतकृत्य होता है वह आराधक नहीं होता वह अपने आप में आराध्य होता है। यह ध्यान रक्खो, सिद्ध परमेष्ठी

आराध्य हैं आराधक नहीं; इसलिए आराधक जो हैं वे अशुद्ध जीव हैं। इसमें कोई संदेह नही है लेकिन आप जैसे आराधक वे नहीं हैं। उनका वह जीवत्व का परिणमन अब शुद्धत्व के निकट पहुंच चुका है कुछ ही दिनों में उनका वह दर्शन निरावरणमय बनेगा। तो बिलकुल अमूर्त बनेंगे अभी वे वास्तविक जीवत्व की प्राप्ति नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि अभी मार्ग में हैं। कुंदकुंद आचार्य ने एक स्थान पर जीव का स्वरूप बताया और एक स्थान पर जीव का लक्षण बताया। स्वभाव में और लक्षण में बहुत अन्तर है और वह यही है—

> अरसमरूबमगन्धं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
> जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥

ध्यान रखिये! यह जीव का लक्षण नही है, यह जीव का स्वरूप है। जीव का स्वरूप अलग होता है और जीव का लक्षण अलग होता है। 'उपयोगो लक्षणं' उपयोग को जीव का लक्षण कहा है। इस प्रकार जीव का लक्षण और जीव के स्वरूप मे बहुत अतर है। जीव का स्वरूप तो अमूर्त है; लेकिन जीव का लक्षण अमूर्त नही हो सकता। इसका लक्षण यदि अमूर्त हो जायेगा, अरस हो जायेगा तो अरस वाले पदार्थ पाँच होते हैं; धर्मास्तिकाय आयेगा, अधर्मास्तिकाय भी आयेगा, आकाश भी आयेगा, काल भी आयेगा, जीव तो है ही। पर ऐसा नही है अरस भी नही अगंध भी नही, अनिर्दिष्ट सस्थान भी नही। अशब्दमय भी नहीं, अलिगग्रहण भी नहीं, कुछ भी नही, यह जीव का लक्षण नही है यह जीव का स्वरूप है अर्थात् स्वभाव है और उस स्वभाव की प्राप्ति के लिए ही आचार्य कहते हैं, उसको अपने मे प्राप्त करना है अत. वह प्राप्तव्य है। यह स्वरूप किसके माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है? तो आचार्य कहते है अर्हन्त परमेष्ठी के स्वरूप को देख लो क्योकि मूर्त को देखकर अमूर्तत्व की प्राप्ति तो तीन काल में होगी नही क्योंकि आँखों के माध्यम से अमूर्तत्व हमारी आँखों में आयेगा नहीं और आँखों में नहीं आयेगा तो उस उपादेय के प्रति प्राप्ति होगी नहीं, गति नहीं होगी तो ये चार गतियाँ भी छूटेंगी नही। इसलिए जिस स्वभाव का भान कराया गया है वह स्वभाव मात्र सिद्धालय में प्राप्त होगा, वह अभी अर्हन्त परमेष्ठी को भी प्राप्त नही है यह ध्यान रखना। अर्हन्त परमेष्ठी के पास उसको प्राप्त करने की क्षमता

तो है, शक्ति तो है; लेकिन अभी उस शक्ति के उद्घाटन के लिए प्रयास परम आवश्यक है जिसे वे कर रहे है रात-दिन। अर्हन्त परमेष्ठी इसीलिए तो स्नातक मुनि कहलाते हैं और स्नातक (बेचलर) का अर्थ है स्नान किया हुआ और स्नान का अर्थ क्या ? स्नान का अर्थ तो यह है कि जो आठ कर्म है उन आठ कर्मों में से चार कर्मों का जो मल लग गया था उसको धो दिया अतः स्नातक वन गये। अत. चौदहवी कक्षा में जो स्नातक बोला जाता है और सोलहवी कक्षा में उसको स्नातकोत्तर (पोस्ट-ग्रेजुएट) बोलते हैं तो तेरहवें गुणस्थान मे तो वे स्नातक है और चौदहवें गुणस्थान में वे स्नातकोत्तर है लेकिन लेक्चरार नही है, यह भी ध्यान रखना। इसका अर्थ क्या है कि वे विद्यार्थी है तो इसका अर्थ यह हो गया कि पहली कक्षा में पढने वाला वह भी विद्यार्थी है, १६वी कक्षा में पढने वाला वह भी विद्यार्थी है। हो सकता है पहली कक्षा का वह विद्यार्थी मेरिट में आ सकता है और १६वी कक्षा मे जो स्नातकोत्तर है वह फ़ेल भी हो सकता है और उसको देखकर वह पहली कक्षा वाला हँस भी सकता है कि तुम तो फेल हो गये, हम तो पास है। हमे तो प्राइज पुरस्कार भी मिल गया, लेकिन उसकी वह हँसी उचित है क्या ? नही। उसी प्रकार आप समझो, वह जब विद्यार्थी है तो अभी कुछ प्राप्त करना चाहता है क्योंकि 'विद्या एव प्रयोजनम् यस्य स विद्यार्थी' अथवा 'विद्याम् अर्थयते—इच्छति इति विद्यार्थी' जो विद्या को चाहता है वह विद्यार्थी है अर्थात् कुछ पाना चाहते है जितना अभी प्राप्त हो चुका है उसको क्या चाहना, अभी कुछ और प्राप्त करना है और वह है शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति, अलिंग-ग्रहण। अभी हम लोगो को पकड मे भी आ रहे है अरिहन्त परमेष्ठी। वे चाहते है कि हम सभी की पकड़ से बाहर निकल जायें। कैसे ? भइया, बिना परीक्षा दिये थोडे ही लेक्चरार बनेगे आप। एम.ए. के लिए भी दो साल का कोर्स है, उसे करना होगा। एकदम ऐसे छलाँग नहीं मार सकोगे, परीक्षा देनी होगी यह भी ध्यान रखना और लेक्चरार बनना चाहो तो इसका अर्थ यह है कि फर्स्ट डिवीजन में आना होगा तो ही लेक्चरार बन सकेंगे, आप कुछ शर्तें है उन शर्तों को पूर्ण करने मे अभी सक्षम नही है अर्हन्त परमेष्ठी। ध्यान रक्खो वे है अर्हन्त परमेष्ठी जो दर्पण के सदृश उज्ज्वल है। जब दर्पण के समान उज्ज्वल बन गये तब दर्पण में और क्या उज्ज्वलता लाना ? मालूम है आपको, दर्पण में और कौन-सी उज्ज्वलता

लानी है, नहीं मालूम ? रोजाना दर्पण देखते हो, क्यों पाकेट में रख रक्खा है देखते हो न। हाँ, हम रोजाना दर्पण देखते हैं। पर एक दिन भी आपने दर्पण नही देखा, देखा कभी दर्पण, नही देखा। तो देख लो अभी ट्राइ कर लो। देख लो, यह हँसी की बात नही है। दर्पण को देखने की आँखें कुछ अलग होती हैं। दर्पण नहीं दिखता, दर्पण मे ये मुखडा दीखता है और वह दर्पण के अदर है मुखड़ा। बीच मे दर्पण है; लेकिन फिर भी दर्पण नहीं दीखता। नम्बर पहले आया है उसका फिर भी नही दीखता। क्यो नही दीखता ? यही तो अतर है इतने उज्ज्वल तो अर्हन्त परमेष्ठी बन चुके हैं लेकिन उनमे क्या कमजोरी है ? अर्हन्त परमेष्ठी अभी शुद्ध जीव तत्त्व क्यों नही हैं ? ध्यान रक्खो अर्हन्त परमेष्ठी दर्पण के समान शुद्ध है, काँच के समान नही। दर्पण और काँच मे कोई अतर है। हाँ; है। दर्पण उसे कहते है— एक काँच के ऊपर या उसके पृष्ठ भाग पर कुछ लालिमा लगाई जाती है। आ गया समझ मे। तो लालिमा लगी है इसलिए उसका नाम दर्पण और वह लालिमा भी हट जाये तो उसका नाम काँच और तब पारदर्शक ट्रान्सपेरेंट हो जाती है आपकी दृष्टि। काँच मे आप अपने आप को देख नही सकते। उसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी काँच के समान ट्रान्सपेरेंट हो चुके है और अर्हन्त परमेष्ठी जो है अभी ललाई को लिये हुए हैं। कुछ लाल-लाल है उनके पास। आ गया समझ मे। ये कमी है और उसको भी धोने मे वे लगे हैं यह निकल जाये तो जल्दी-जल्दी मैं चला आऊँ। प्रत्येक व्यक्ति अर्हन्त परमेष्ठी की प्रतिमा को तो स्थापित कर लेते है पर सिद्ध परमेष्ठी को नही। क्यों ? सिद्ध परमेष्ठी का कोई आकार-प्रकार ही नही है। लालिमा लिये ये सारे-के-सारे परिणमन आत्मा की वैभाविक शक्ति के माध्यम से है। चार कर्म निकल चुके है इसलिए-दर्पण के समान उज्ज्वल हो चुके है। ऊपर का भाग उसमें किसी प्रकार का मल नही रहा इसलिए उसमे हम अपने-आप के मुँह को देख सकते है किन्तु जब पीछे पृष्ठ भाग वाली लालिमा चली जाती है तो बिल्कुल स्वभावमय काँच बन जाता है और काँच का अर्थ ही काज है, नही समझे ? काज का अर्थ बुंदेलखंडी में है आनंद के लिए जैसे मुक्ति के काज, निजानंद के काज; अतः आनंद ही एक मात्र कार्य है प्रयोजन है उसके लिए ऐसा हम कह सकते हैं। वह कार्य सम्पन्न हो जाता है, काज हो गया का अर्थ है कृतकृत्य बन गया। इसी

प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के पास जीवत्व है किन्तु अर्हन्त परमेष्ठी के पास जीवत्व नही, किन्तु वह जीवत्व वैभाविक शक्ति के साथ परिणमन को प्राप्त हो रहा है वह भले ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के साथ विभूषित क्यों न हो? अतः आचार्य परमेष्ठी के लक्षण की कोटि में चेतना या उपयोग को रक्खा है और स्वरुप की कोटि में कितनी ही शक्तियाँ लिख दी हैं, देखो यहाँ अरस, अरूप, अगंध ये सारे-के-सारे लक्षण नही हैं। ये संसारी जीवों में यदि हम देखना चाहते है तो तीन काल में भी नहीं देख सकते। लक्षण के माध्यम से तो हम आराधना कर सकते है; किंतु स्वरूप के माध्यम से कोई पकड मे नहीं आयेगा। तो अर्हन्त परमेष्ठी की हम पूजा करते हैं, किंतु अभी वे असिद्धत्व का अनुभव कर रहे है, लेकिन उम्मीद है वे स्नातकोत्तर हो चुके है इसके उपरान्त वे अवश्यरूपेण लेक्चरार बनेंगे, आराध्य बनेंगे इसमे कोई संदेह नही हैं, इसलिए उन्हें हम नमस्कार करते हैं।

इसीलिए 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' कह करके आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र का प्रारम्भिक मगलाचरण किया है या यूँ कहना चाहिए वहाँ से प्रारभ किया मोक्षशास्त्र को और अत मे जाकर वे कह देते है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र मे भी आत्मा के स्वभाव नही है। किन्तु स्वभाव में कारण है इसलिए उसको स्वभाव कह देते हैं। इसलिए इनका अभाव भी अनिवार्य आवश्यक है। ऐसा कह करके जहाँ उन्होंने 'औपशमिकादि भव्यत्वानाञ्च' कहा है वहीं उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणत जो भव्यत्व भाव है उस भव्यत्व पारिणामिक भाव का भी अभाव दिखाया है। सिद्धालय मे मात्र जीवत्व भाव रह जाता है। वह जीवत्व ही हमारे लिए प्राप्तव्य है और प्राप्तव्य के लिए कारणभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है। ये भी आत्मा की वैभाविक दशा मे जो कुछ परिणमन हुए है उनके प्रतीक हैं। अतः समझना चाहिए द्रव्य जहाँ शुद्ध है वहाँ सारी-की-सारी द्रव्य की पर्यायें भी शुद्ध है, गुण भी शुद्ध है कृतकृत्य है। द्रव्य शुद्ध है तो पर्याय भी शुद्ध है और पर्याय शुद्ध है तो द्रव्य भी शुद्ध है। जहाँ एक अशुद्ध है तो सारा-का-सारा अशुद्ध है। एक कारण-कार्य की अपेक्षा से भी हम इसकी सिद्धि कर सकते है कि पर्याय किसी-न किसी का तो कार्य होगा और इस पर्याय रूप कार्य का उपादान भी परम आवश्यक है और यह उपादान

कौन ? यह सिद्ध किया जाएगा तो अपने-आप मालूम पड़ेगा कि उपादान तो होना चाहिए और वह उपादान शुद्ध है या अशुद्ध क्योंकि पर्याय तो अशुद्ध है। अतः उपादान जो है शुद्ध हो यह हो नहीं सकता। उपादान शुद्ध रहे और उसका कार्य अशुद्ध बने ऐसा हो नही सकता, इसलिए वह पर्याय द्रव्य में से निकली है तो द्रव्य भी अशुद्ध है, इसलिए पर्याय रूप जो कार्य है वह भी अशुद्ध है यह सिद्ध हो जाता है। अतः आचार्यों ने जहाँ कही भी कहा कि द्रव्य शुद्ध है वहाँ शुद्ध रूप परिणमन होने की एक शक्ति है जिसको कहते हैं स्वाभाविक शक्ति। एक बार जब उस स्वाभाविक शक्ति का उद्घाटन हो जाएगा तो पुनः वैभाविक शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी—नहीं होगी, नही होगी, जैसे—

> पाषाणेषु यथा हेम, दुग्ध मध्ये यथाघृतम्।
> तिलमध्ये यथा तैलं, देह मध्ये तथा शिवः ॥

जिस प्रकार दूध मे घी उसी प्रकार इस देह में आत्मा है। हम दूध मे से यूं ही घी निकालना चाहें तो वह हाथ आयेगा क्या ! हाथ तो निकल आयेगा अपने-आप लेकिन घी नही आयेगा। क्यों नही आयेगा ? घी उसमें है या नही ? है तो फिर आया क्यो नही ? घी उसमे नही भी है और घी उसमें है भी। किसी को आप ठग तो नही रहे है। ध्यान रक्खो, यदि घी होता तो वह है, या नही यह आपकी नासिका बता देती। तब घी है भी और नही भी है। इसका अर्थ क्या हुआ। दूध के बाहर से तो घी नही आयेगा इसलिये घी है लेकिन यदि है तो सुगंध भी तो आनी चाहिए; लेकिन नही आ रही है अतः दूध में घी नही भी है। यदि घी उसमे है तो कोई वैद्य यदि यहाँ हो तो मै पूछना चाहता हूँ कि जब किसी को औषधि देते है तो किसी को तो घी में देते है और किसी को दूध के साथ लो ऐसा कह देते है। वैद्य महाराज से मै पूछना चाहूंगा कि जब दूध मे घी है तो उस घी को कैसे हटाओगे, आप घी निकाल दोगे तो छाछ बन जाएगी और छाछ के साथ तो आपका ये कल्प है ही नही। तो कहना पड़ेगा कि दूध पर्याय भिन्न है और घी पर्याय भिन्न है तथापि घी दूध के बिना नही है और दूध घी के बिना नहीं है। फिर भी हाथ डालने से निकलता नहीं यह बात भी है। ऐसा क्यों ? यही तो बात है जिसे हम श्रद्धान में उतार सकते हैं। अभी घी नही है, घी की शक्ति है,

और उसमें से निकालना चाहो तो उसके साथ जो कोई भी संबंध हुआ है जिससे उसका परिणाम अशुद्ध रूप या विभाव रूप हो चुका है उसको हटाना होगा और उसके लिये कम-से-कम २४ घण्टे की आवश्यकता है। व्याख्यान के लिए २४ घण्टे की भी आवश्यकता नही, वह तो पाँच मिनिट में भी हो सकता है; परन्तु एक व्यक्ति ने आप से घी माँगा हो तो चौबीस घंटा ही लगेगा भइया ! हाँ, अतः जो व्यक्ति घी को प्राप्त करना चाहता है वह व्यक्ति एक किलो, दो किलो दूध को तपाता है, तपाने के उपरान्त उसमें जामन पटकता है, डालता है। उस जामन के माध्यम से दूध जम जाता है। जमने के उपरान्त उसमें मथानी डालकर मंथन करते हैं और कब तक करते है ? बीच-बीच मे मथानी को उठाकर देख भी लेते हैं कि नवनीत आ रहा है या नही आ रहा है। पाँच मिनिट करते है, फिर देखते है। एक वार का मुझे अनुभव है इसलिये कहता हूँ। फिर उसके उपरान्त वह नवनीत आ जाता है। आने का लक्षण भी अलग है, चने के दाने-दाने-से मथानी के ऊपर लग जाते हैं। और आते ही यदि उसको और ज्यादा मथन कर दोगे तो वह और छोटे-छोटे होकर उसी मे विलीन हो जायेंगे, इसलिये मथन वन्द कर देते है, इस प्रकार मथानी का काम तो खत्म हुआ। अव इसके उपरान्त उसको गीले हाथों से नही गरम-गरम पानी से धोते है ताकि चिपके नही। नवनीत मे अभी चिपकने का स्वभाव है। घी तो उठ (निकल) आयेगा लेकिन नवनीत चिपक जायेगा, यह ध्यान रखना। इस तरह दूध मे से एक ऐसा तत्त्व निकला जो तैर रहा है और डूवा नही है। यह भी ध्यान रखना और छाछ के अग्र भाग पर भी नही है वलिक तैर रहा है। उसकी शकल अभी भी सामने आ रही है। कम-से-कम चौदहवाँ हिस्सा तो डूवा हुआ है लेकिन दो आना हिस्सा ऊपर दीख रहा है फिर भी वह तैर रहा है। पहले तो ऐसा कोई गोला दूध मे नही दीख रहा था, यह कहाँ से आ गया ? यह उस मंथन का, उस परिश्रम का परिणाम है कि अब डूबा-डूवा भी अपना थोड़ा मुखडा दिखा रहा है। ध्यान रक्खो, उसी प्रकार अर्हंत परमेष्ठी है नवनीत का गोला जिस प्रकार तैर रहा है उसी प्रकार अर्हंत परमेष्ठी भी तैर रहे है और तैरने वाला व्यक्ति अपने-आप के शरीर के पूरे हिस्से को नही दिखा सकता, इतना ही दिखा सकता है ताकि तुम समझ लो, वहाँ उसे देख लो। नवनीत छाछ में डूबा हुआ, इतना-सा दीखता

है उसी के माध्यम से देख लो समझ में आजायेगा। अर्हंत परमेष्ठी भी ऐसे ही तैर रहे हैं अब डूबेंगे नहीं वे भवसागर में; लेकिन अभी लोक के अग्रभाग में नहीं पहुँचे हैं। घी और नवनीत के बीच यदि हमें देखना है तो नवनीत को कितना ही भीतर धकेल दें आप, वह उसी दशा में रहेगा तैरता हुआ किन्तु घी को कितनी ही बार धक्का दे दो वह तो झट झपटकर बिल्कुल सांगोपांग ऊपर आ जाता है, अदर रहा ही नही। तो सिद्ध परमेष्ठी बिल्कुल लोक के अग्र भाग पर है इसलिये वे सिद्ध हैं, शुद्ध है और अर्हंत परमेष्ठी नवनीत की भाँति न शुद्ध है न अशुद्ध ही है तो ऐसी दशा में उनको क्या कह दिया जाये, उनके पास अलिगग्रहण तत्त्व भी नही है अभी। सिद्धत्व रूप जो तत्त्व है वह नही है, जीवत्व रूप जो केवल जीवत्व है, वह नही है, भव्यत्व का भी अभाव आवश्यक है। और नवनीत में इतना जल तत्त्व है कि वह जल तत्त्व उस मक्खन को इतना डुबोये रहता है। इसी प्रकार अर्हंत परमेष्ठी के पास भी कुछ विकृत वैभाविक परिणतियाँ हैं जो उन्हें लोक के अग्रभाग मे जाने से रोके हुए है। उन्हे भी हटाने का वे प्रयास कर रहे है। अतः अपने को सोचना चाहिये कि घी उस दूध में होते हुए भी, उसका व्यक्त रूप उसमें नहीं मिलता, अव्यक्त रूप से वह है। इसी को आचार्यो ने अपने शब्दो मे शक्ति और व्यक्ति ये दो शब्द दिये है कि अपने पास सिद्ध बनने की शक्ति है किन्तु व्यक्त करेंगे तो वह शक्ति व्यक्त हो सकती है अन्यथा कोई भी दुनिया की शक्ति नही है जो उस शक्ति को व्यक्त करा दे। दही मे से नवनीत को निकालने के लिये जिस प्रकार मथानी आवश्यक साधन हो जाता है उसी प्रकार यह दिगम्बरत्व और सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप साधन, ये सारे-के-सारे परम नितान्त आवश्यक है जिनके माध्यम मे मार्ग मिलेगा और मजिल भी अवश्य मिलेगी।

जीव तत्त्व की निष्पत्ति ससार दशा मे प्राप्त नही हो सकेगी। जीव तत्त्व चाहिये तो वह सिद्धो मे है। उसके लिए भव्यत्व का भी अभाव परम आवश्यक है और भव्यत्व की अभिव्यक्ति जो है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुख के कारण हैं, मुक्ति के कारण है। सुख-रूप नही है इसलिए इन्हें मार्ग बताया है। मार्ग में कभी सुख मिलता है क्या? तो

मैं यह भी पूछना चाहता हूं कि मार्ग में दु:ख क्या है? सुख भी नहीं है दु:ख भी नहीं है। तो कुछ-न-कुछ तो होगा ही, तो कहना पड़ेगा कि दु:ख अभी है लेकिन यदि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में सुख होता तो उनके अभाव करने की क्या आवश्यकता थी सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए इनका अभाव परम अनिवार्य बताया है। वह कारण है उस कार्य में। ये मार्ग हैं, वह मंजिल है। ये तीनों के कारण और वह (सिद्धत्व) सुख रूप अवस्था।

वृहद्द्रव्यसग्रहकार ने एक वाचिका में लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की परिणति रूप जो आत्मा की उपयोग की परिणति है वह स्वभाव नही है। तो आत्मा का स्वभाव फिर क्या है? क्योंकि शुद्धोपयोग यदि आत्मा का स्वभाव हो तो सिद्धावस्था मे भी शुद्धोपयोग रहना चाहिए, किन्तु शुद्धोपयोग तो ध्यानावस्था का नाम है, ध्यान वहाँ नही रहता और यदि वहाँ भी ध्यान करने की आवश्यकता पडे तो वहाँ पसीना भी आने लग जाएगा। ध्यान नही है वहाँ, पर ध्येय है। तो ध्यान का अर्थ यहाँ क्या है? ध्येय को प्राप्त कराने वाली वस्तु, किन्तु वह ध्येय नही है। उसी प्रकार शुद्धोपयोग भी आत्मा का लक्षण नही है, उपयोग आत्मा का लक्षण है। चैतन्यमात्र खलु चिच्चिदेव'। मात्र चैतन्य वहाँ रह जाता है 'शुद्ध चेतना या ज्ञान चेतना' यूँ कहना चाहिए शुद्धोपयोग की परिणति नही है वहाँ इसलिए शुद्धोपयोग को उन्होंने वैभाविक परिणतियो मे गिना है।

इस प्रकार बहुत कुछ जीव तत्त्व के बारे मे कहने योग्य है, किन्तु आपका समय हो रहा है और हो ही गया है—इसमे कोई सदेह नही। समय वैसे अपरम्पार है और जीव तत्त्व के बारे मे समझना चाहिए कि वर्तमान में जीव अशुद्ध है, द्रव्य भी अशुद्ध है इसलिए पर्याय की भी अशुद्धि है, पर्याय जब शुद्ध बनेगी तब जीव तत्त्व की निष्पत्ति नियम रूप से होगी जिसमें अनत काल तक उसी प्रकार सहज प्रक्रिया होगी अर्थात् विक्रिया नही होगी। शुद्ध तत्त्व की अनुभूति रहेगी अनत काल तक !

जीव तत्त्व से विपरीत अजीव तत्त्व है। वह ज्ञान-दर्शन से शून्य है। आगम में उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल; ये पाँच भेद

कहे गये है। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार के द्वारा जीव में कोई विकृति नहीं आती परन्तु कर्मरूप परिणत पुद्गल द्रव्य की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादि विकार प्रकट होते है। यद्यपि इन रागादि विकारों का भी उपादान कारण आत्मा है तथापि मोहनीय कर्म की उदयावस्था के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से वह इनका निमित्त कारण होता है। रागादि विकारी भावों का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल में कर्मरूप परिणति होती है। इस परिणति के फलस्वरूप जीव की संसार-वृद्धि होती रहती है। कर्म से शरीर-रचना होती है, शरीर मे इन्द्रियों का निर्माण होता है, इन्द्रियों मे स्पर्शादि विषयो का ग्रहण होता है, उससे नवीन कर्मबन्ध होता है और उसके फलस्वरूप पुनः शरीर रूप नोकर्म का ग्रहण होता है। इस कर्म, नोकर्म और भावकर्म रूप अजीव का जीव के साथ अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है, जब तक इसका लेशमात्र भी सम्बन्ध रहेगा तब तक मुक्त अवस्था की प्राप्ति नही हो सकती, इसलिये इस अजीव तत्त्व को समझ कर पृथक् करने का प्रयत्न करना चाहिये।

(महावीर भगवान् की जय!!) 卐

गुणों "भव्यत्व के नाश में सम्यक्त्वादि का नाश मानना भ्रान्ति है। भव्यत्व [illegible] योग्यता का नाम है और सम्यक्त्वादि आत्मा के गुण हैं। कार्यरूप होने पर योग्यता का व्यवहार समाप्त होता है - गुणों का अभाव नहीं होता क्योंकि गुणों के नाश पर गुणी ही नहीं रहेगा — आत्मा शून्य हो जायगा।

(4) भव्यत्व भाव यदि [illegible] है तो [illegible] [illegible]

आस्रव तत्त्व

ओम् नमः सिद्धेभ्यः!

हे कुन्द-कुन्द मुनि! भव्य सरोज बन्धु।
मैं बार-बार तव पाद पयोज बन्दूं॥
सम्यक्त्व के सदन हो समता सुधाम।
है धर्मचक्र शुभ धार लिया ललाम॥

कल जीव तत्त्व के बारे में कुछ अंशो में तो बात समझ में आ गयी है—हम लोगों को। उस जीव तत्त्व के विपरीत जो तत्त्व है, वह अजीव तत्त्व है। उस अजीव तत्त्व के बारे में विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता नही है; क्योंकि पूरब यह है तो उसकी विरुद्ध दिशा में पश्चिम दिशा होगी ही इसमें कोई सन्देह नही है। जिसमें चेतना नही है वह अजीव तत्त्व है और जिसमें चेतना है वह जीव तत्त्व है।

सात तत्त्वों में विद्यमान जीव-अजीव के उपरान्त अब आता है आस्रव। स्रव का अर्थ है बहना। स्रवति अर्थात् बहना, सरकना, स्थान से स्थानांतर होना और इस स्रव धातु के आरभ मे 'आ' उपसर्ग लगा दिया जाये तो आस्रव शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। गच्छति का अर्थ होता है जाना और आगच्छति का अर्थ है आना। नयति का अर्थ है ले जाना और आनयति अर्थात् ले आना। इस प्रकार इस 'आ' उपसर्ग के अनुरूप धातु का अर्थ विपरीत हो जाता है जैसे दान और आदान। देना बहुत कम पसन्द करते हैं आप लोग, और आदान अर्थात् लेने के लिए पहले तैयार हो जाते है। कुछ भी हो लेकिन कम-से-कम आ जाये तो अच्छा है। भले ही घाटा लग जाये तो कोई बात नही; अतः आस्रव का अर्थ आना हो गया। अब क्या आना? यह प्रश्न उठता है। आस्रव के दो भेद आचार्य करते हैं—एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव। द्रव्यास्रव का अर्थ है बाहिरी चीजों का आना। अब यह बहुत रहस्य की बात है कि आत्मा है ही, और फिर आत्मा मे क्या आना है? बाहर से आना कट-ऑफ ही कर दिया तो अब अन्दर-ही-अन्दर क्या आना है? अन्दर का ही अन्दर आना इसका अर्थ है भावास्रव। ऐसा कैसे हो? यह

प्रश्न हम करें तो आचार्य उमास्वामी ने स्पष्टरूपेण छठे अध्याय (मोक्ष-शास्त्र) के प्रारम्भ में ही सूत्र लिखा है—

काय वाङ्मनः कर्म योगः। स आस्रवः। शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।

उन्होंने भी बडा विचार किया, बहुत चिन्तन किया कि यह आस्रव क्यों होता है? अभी तक धारणा ऐसी थी कि कर्म के उदय से आस्रव होता है, किन्तु गहरे चिन्तन के उपरान्त यह फलित हुआ कि आस्रव; यह कर्म की देन नही है, आत्मा की ही अनन्य शक्ति (योग) की देन है।

कर्मों के ऊपर ही सब लादने से हम कर्मों की क्षमता को ठीक-ठीक समझ नही सकेंगे। बुद्धिजीवी बहुत हैं। ऐसे विद्वानों के सामने यह कह देना कि कर्म जबरदस्ती आत्मा मे इस प्रकार के भाव पैदा कर सकते है, यह सभव नहीं है, क्योंकि यदि कर सकते है तो फिर स्वतन्त्र सत्ता लुट जाती है और स्वतन्त्र सत्ता लुट जायेगी तो उस सत्ता के लुट जाने से पराई सत्ता यदि सवार हो जायेगी तो उस पराई सत्ता का कोई अभाव नही कर सकता क्योकि आत्मा के पास यह शक्ति तो है ही नही। तो कर्म का आस्रव होता ही रहेगा। सामान्य कर्मों के आस्रव की बात मै कह रहा हूँ विशेष कर्मों की बात नही। क्योकि काय वाङ्मन. कर्मयोग। 'सआस्रव.' यह कहा है। और मन-वचन-काय की चेष्टा का नाम योग है।

ध्यान से आप सुनेंगे तो इस प्रवचन से आपको बहुत कुछ मसाला मिल जायेगा और आत्मा की उपादान शक्ति की जागृति आप इस दौरान करना चाहे तो कर सकते है और नही करना चाहें तो कल्प-काल व्यतीत हो जाये तो भी नही कर पायेंगे। योग यह कर्म की देन नही है, कर्म की वजह से नही हो रहा है यह योग। योग आत्मा की ही एक वैभाविक शक्ति का परिणाम है। यद्यपि इस प्रकार के उल्लेख ग्रन्थो में ढूंढ़ने के लिए जाये तो बहुत मुश्किल से मिलेंगे। लेकिन जो मंथन करेंगे उन्हें अवश्य मिलेंगे। यह मंथन की बात है और जब तक मथेंगे नही, तब तक नवनीत का गोला हाथ नही लगेगा—यह ध्यान रखना। खूब मंथन करो, आत्मा की शक्ति के बारे में, खूब चिन्तन करो। अद्वितीय आत्मशक्ति है यह, चाहे वैभाविक हो

या स्वाभाविक हो। लेकिन आत्मा की शक्ति जितनी भी है वह अद्वितीय है और यह योग किसी एक की देन नहीं है। अपने यहाँ आठ कर्म हैं मूल रूप से। ज्ञानावरण का स्वभाव या प्रकृति ज्ञान को ढकना है। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति दर्शन को ढकना है। वेदनीय की प्रकृति आकुलता पैदा करना है और मोहनीय की प्रकृति गहल भाव पैदा करना है। इसके उपरान्त नामकर्म का काम अनेक प्रकार के रूप पैदा करना, आकार-प्रकार देना है और गोत्रकर्म का काम ऊँच और नीच बता देना है। आयुकर्म का काम एक शरीर विशेष में जकड़ा देना है और अन्तराय कर्म वीर्य को रोकने वाला है। अब इन सबका कार्य तो हो गया। इनके उपरान्त योग तो फिर भी खड़ा है ज्यों-का-त्यों। अब वह किस कर्म की देन है? थोड़ा यदि आप ठंडे दिमाग से विचार करें तो बहुत जल्दी विचार में आ जायेगा और यह आपके अन्दर भी खड़ा हो जायेगा कि योग है तो क्या है यह बला? आठ कर्मों के अलावा कुछ है ही नही और आठ कर्मों के जो उत्तर-भेद है उनमें भी कोई योग को बताने वाला, योग को देने वाला कर्म नही है।

अब ऐसी स्थिति में योग क्या चीज है, जो कर्मों को खींच रहा है, खीचने वाला है।

आस्रव आ-समन्तात् आवसे इति आस्रवः ।

अर्थात् ऐसी कौन-सी शक्ति है जो चारों ओर से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-वर्गणाओ को लाकर रख देती है। वह शक्ति और कोई नही बल्कि योग है और वह योग किसी कर्म की देन नही है वह न क्षायिकभाव में आता है न क्षायोपशमिक भाव में आता है और न ही औदायिक भाव में आता है किन्तु पारिणामिक भाव में वह योग आता है ध्यान रक्खो। पारिणामिक भाव द्रव्य से द्रव्यान्तर की अपेक्षा नहीं रखता।

"परिणामे भवः पारिणामिकः"। उन्हें किसी कर्म की आवश्यकता नहीं है।

अब तक हमने पारिणामिक भाव तो तीन ही सुने थे महाराज! अब ये चौथा कहाँ से लाये आप। आपका कोई ग्रन्थ हो अलग से हो सकता है।

ध्यान रखो मैं कोई अलग से लाने वाला नहीं हूं किन्तु निर्ग्रन्थ आचार्यों का उपासक निर्ग्रन्थ अवश्य हूं। निर्ग्रन्थों की उपासना करने से इस चीज की उपलब्धि हुई है। आप धवला ग्रथ आंख खोलकर देखेंगे तो मालूम पड़ जायेगा कि योग पारिणामिक भाव में स्वीकृत है। अब यह ध्यान रखें कि यह आत्मा का ही एक मनचलापन है जो कर्मों को खींचता है। चाहे अशुभ को खीचे, चाहे शुभ को।

अशुभयोग जब तक रहेगा तब तक अशुभ कर्म-प्रकृतियों का आस्रव होगा और जब शुभयोग होगा तो शुभ कर्म प्रकृतियो का आस्रव होगा। लेकिन योग जब तक रहेगा तब तक वह आस्रव करायेगा ही। योग कर्म की देन नही है। एक बड़ी अद्‌भुत चीज मिल गयी, एक स्वतन्त्र सत्ता का आज ज्ञान होता जा रहा है कि जब आत्मा ही आस्रव कराता है तब आत्मा उस आस्रव को रोक भी सकता है। और वह आस्रव किसी कर्म की देन नही है—यह ध्यान रखना। इसलिए आस्रव तत्त्व को रोकना चाहे, तो कोई भी व्यक्ति कर्म के उदय की अपेक्षा करके हाथ जोड़ कर बैठता है तो वह उस करणानुयोग में अधिकृत है अर्थात् उससे वह अज्ञात है, वह ज्ञान उसे प्राप्त नही है। धवलाकार ने कहा है यह योग पारिणामिक भाव है पर आत्मा का पारिणामिक भाव होते हुए भी यह ध्यान रखना, आत्मा के साथ इसका त्रैकालिक सम्बन्ध रहा आवे यह नियम नही है। कई पारिणामिक भाव होते हैं, जिनका सम्बन्ध आत्मा के साथ त्रैकालिक नही होता जैसे अग्नि है और अग्नि मे धुआँ। धुआँ सेपरेट अलग और किसी चीज में से निकलता हो—ऐसी बात नही है लेकिन वह अग्नि में से निकलता है और वह अग्नि अशुद्ध अग्नि का नाम पाती है जिसमें से वह धुआँ उठता है, लेकिन एक बार वह शुद्ध अग्नि बन जाये तो फिर धुआँ नही निकलेगा। निर्धूम अग्नि का भी प्रकरण न्याय ग्रन्थों में पाया जाता है। जहाँ अग्नि हो, वहाँ धुआँ हो यह नियम नहीं है।

'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः अस्ति एव।'

जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ नियम रूप से अग्नि है। लेकिन जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धुआँ हो ऐसा नियम नही है क्योंकि निर्धूम अग्नि धुआँ रहित अग्नि भी रहती है।

निर्धूम अग्नि स्वाभाविक अग्नि है और सधूम अग्नि वैभाविक अग्नि है। जैसे उस अग्नि में से ही धुआँ निकल रहा है वैसे ही आत्मा के अन्दर कुछ ऐसे परिणाम हैं जो विकृति हैं और कर्म की अपेक्षा भी नहीं रखते और कुछ ऐसे भी हैं जो स्वाभाविक हैं। लेकिन जब स्वाभाविक शक्ति होगी तब वैभाविक शक्ति नहीं रहेगी और जब वैभाविक शक्ति होगी तो स्वाभाविक शक्ति नहीं रहेगी।

योग आत्मा की वैभाविक शक्ति का एक परिस्फुटन है जिसके माध्यम से आत्मा के एक-एक प्रदेश के ऊपर अनंतानंत कर्म-रेणु आकर चिपक रहे हैं। यह किसी कर्म की वजह से नही है और कर्म की वजह से यदि कोई कहता है तो वह आत्मा की योग रूप शक्ति को नही मान रहा है, यह ध्यान रखना। अब इसके उपरान्त हम चलते हैं कि जब योग है तो इससे कर्म आने चाहिए लेकिन योग के साथ शुभ और अशुभ का व्याख्यान भी तो उमास्वामीजी ने किया है। यह क्या बला है? कर्म आना चाहिये, ठीक है पर शुभ और अशुभ का व्याख्यान क्यों किया? तो आचार्य कहते हैं कि अशुभ का आस्रव कषाय के साथ होता है, जिसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं।

'सांपराय: कषाय:':-तेन साकम् आस्रवति यत् कर्म, तत् सांपरायिक कर्म इति कथ्यते। जो योग कषाय के साथ (सम्बन्ध) अटेचमेंट को प्राप्त हो चुका है अर्थात् कषाय के साथ जीवित जो योग है उसके माध्यम से अशुभ का आस्रव होता है और कषाय से विहीन योग के साथ मात्र आस्रव तो होता है किंतु शुभ का होता है साता-वेदनीय का ही होता है। इसके अलावा और किसी का आस्रव नही होता। इसका अर्थ यह हो गया कि कषाय के साथ जब तक योग रहेगा तब तक वह अशुभ कर्मों को लायेगा, लायेगा, लायेगा, किसी भी प्रकार से आप उसे रोक नही सकते।

मैं आप लोगों की दृष्टि किसी कर्म की ओर इसलिए नही ले जा रहा हूं क्योंकि कर्मों के बारे मे बहुत कुछ व्याख्यान हो चुके हैं। और सम्यग्दर्शन फिर भी अपने को प्राप्त नहीं हो पा रहा है। आप लोग फिर भी यही कहते है, चोटी के विद्वान् भी आकर यह कहते हैं— महाराज! सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त किया जाय? अब यह तो कहना मुश्किल हो गया कि **समयसार** पढ़ो। क्योंकि वह **समयसार** मैं तो पढ़ता

और उन्होंने रट रक्खा है। पढ़ो—ऐसा कहने की कोई गुंजाइश नहीं रही मेरे पास। और उपदेश का प्रभाव भी इसलिए नहीं पड़ेगा। क्योंकि आप कहेंगे कि आप तो पढ़ते हैं महाराज! मैंने तो कण्ठस्थ किया है। तो मैं क्या जवाब दूं अब। पर फिर भी समयसार पढ़ते हुए भी सम्यग्दर्शन के लिए कह रहा है तो इसके लिए कोई रास्ता तो कम-से-कम मुझे बताना ही होगा। मैं तो निर्ग्रन्थ परिषद् से सम्बन्ध रखता हूं। निर्ग्रन्थ परिषद् का एक सदस्य हूं भइया! और आप सग्रन्थ परिषद् के सदस्य हैं इसलिए मैं आपके सामने बोलते-बोलते सकुचा रहा हूं। दोनों बिल्कुल भिन्न-भिन्न दिशाएं हैं। सग्रन्थ के साथ निर्ग्रन्थ की क्या वार्ता? कैसी वार्ता? तो आगम को सामने रखकर बोल रहा हूं ऐसा न हो कि आप लोग भी बीच में बोल पड़ो।

तो कषाय के साथ जो योग है उसी का आचार्यों ने एक दूसरा नाम रखा है लेश्या। कषाय के साथ अनुरंजित जो योग की प्रवृत्ति है वह है लेश्या। वह लेश्या अर्थात् योग की प्रवृत्ति जब तक कषाय के साथ है तब तक वह अशुभ कर्मों का आस्रव कराने में कारण बन जाती है। कोई भी कर्म किसी भी आस्रव के लिए कारण नही है। किंतु कषाय जो आत्मा की ही परिणति है जो कि उपयोग के ही उथल-पुथल का नाम है, वही आस्रव का कारण है। कषाय किसे कहते है? उपयोग की व्यग्रता—कषाय और योग की व्यग्रता—लेश्या।

आस्रव संसार का मार्ग कहलाता है और संवर मार्ग मुक्ति का कहलाता है। आस्रव ससार का मार्ग है और जब तक आस्रव होगा तब तक कर्म रहेंगे और कर्म रहेंगे तो उनका फल कुछ तो मिलेगा, फल मिलेगा तो परतन्त्र होंगे, परतन्त्र होंगे तो शरीर मिलेगा, शरीर मिलेगा, तो इन्द्रियां मिलेंगी, इन्द्रियां मिलेंगी तो विषयों का ग्रहण होगा जिससे कषाय और जाग्रत होगी। इस प्रकार यह चेन (शृंखला) चलती है।

अर्थ यह हुआ कि कषाय के साथ जो योग की प्रवृत्ति है उसका नाम लेश्या है। वही अशुभ कर्मों के आस्रव के लिए कारण है, महाराज! एक बात आती है उन्हीं उमास्वामीजी का रचित जो ग्रन्थ है तत्त्वार्थ-सूत्र

उसी के आठवें अध्याय में उन्होंने आस्रव-द्वारों के बारे में जो बन्ध के लिए कारण हैं, का उल्लेख किया है-

मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाययोगा बंधहेतवः।

और यहाँ योग को लिया है अन्त में, और सर्वप्रथम रखा है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व बन्ध का कारण माना है पर यह कुछ समझ में नही आ रहा है। चिंता नही करें, आपको आ जायेगा समझ में। यदि एक अलग ढंग से इसका चिंतन करेंगे तो आ जायेगा समझ मे।

मिथ्यात्व न कषाय में आती है, न योग में आती है तथा योग और कषाय के माध्यम से आस्रव मार्ग और बंध मार्ग चलता है। संवर और निर्जरा के माध्यम से मुक्ति का मार्ग चलता है। अपने को कषाय और योगों को सभालने की बड़ी आवश्यकता है। आस्रव को यदि रोकना चाहते हो, आस्रव से यदि बचना चाहते हो तो मिथ्यात्व की ओर देखो ही मत! किन्तु मिथ्यात्व है, भला उसको कैसे काटें। वह अपने आप चला जायेगा। वह कुछ भी काम नही कर रहा है वह अकिंचित्कर है आस्रव और बन्ध के मार्ग मे ध्यान रखना। कुछ भी काम नहीं कर रहा है? तो आप चौंक कर, एकदम उठ कर खड़े हो जायेंगे। इसीलिए तो मुझे बोलना पडा कि वह आस्रव और बन्ध के मार्ग कुछ भी नही कर रहा है।

हमें आस्रव और बन्ध मार्ग को हटाना है, मिथ्यात्व अपने आप हट जायेगा। हाथ जोड़कर सलामवालेकुम कह के चला जायेगा, ध्यान रक्खो; लेकिन उसको भेजने का ढंग अलग है। सुनो, जानो और पहचानो। उसको हटाना है तो यह ध्यान रक्खो उसका काम भी अद्वितीय है, लेकिन आस्रव और बन्ध के मार्ग में कुछ भी नहीं है। आस्रव और बन्ध के मार्ग में मिथ्यात्व प्रकृति को अकिंचित्कर कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति नही। यह चिंतन के माध्यम से मिला है और जब भावना में आप डूबोगे तो मालूम पड़ेगा; लेकनि जब इस प्रकार श्रद्धान बनाओगे तो ही आगे बढ़ोगे, यह ध्यान रखना, इसे आगम से सिद्ध किया जा रहा है। एक-एक मौलिक है सुनेंगे आप, श्रवण करेंगे और यदि उसको आगम के विरुद्ध सिद्ध करना चाहोगे तो

बड़ी खुशी की बात है मैं जानने के लिये तैयार हूँ। पर एक चिंतन आपके सामने रख रहा हूँ।

मिथ्यात्व कुछ काम नहीं करता यह मैं नहीं कह रहा हूँ; परन्तु आस्रव और बंध के क्षेत्र में कुछ नहीं करता यह कह रहा हूँ। यह शब्द देख लो आप यदि भूल भी जावेंगे तो यह टेप पास है ही आपका। वह प्रतिनिधित्व करेगा, बिल्कुल शब्द पकड़ रहा है।

मिथ्यात्व को बंध का हेतु माना है और मिथ्यात्व प्रकृति के माध्यम से सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है ऐसा आगम का भी उल्लेख है; तो मिथ्यात्व के साथ ही होगा इसलिए मिथ्यात्व ने ही किया है सोलह प्रकृतियों का आस्रव—ऐसा आप कह सकते है। आपकी तरफ से यह प्रश्न सामने रखा है। पर अब ध्यान रक्खो कि आस्रव का माध्यम क्या है योग। योग, मिथ्यात्व से अलग है। मिथ्यात्व के साथ योग रहता है यह नियम नही; क्योंकि यदि मिथ्यात्व के साथ योग रहेगा तो फिर चतुर्थ गुणस्थान, द्वितीय गुणस्थान आदि में योग का अभाव हो जायेगा और योग जो है तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बना रहता है; इसलिए योग के साथ मिथ्यात्व का कोई गठबंधन, अन्वय या व्याप्ति नही है अतः मिथ्यात्व के आस्रव के लिए भी मिथ्यात्व का उदय कारण नही है, यह ध्यान रखो। इसका भी समाधान अभी कुछ समय उपरान्त कर देंगे कि मिथ्यात्व का उदय भी मिथ्यात्व का आस्रव नहीं करा सकता उसके पास शक्ति नही है। उसका आस्रव कराने वाली एक शक्ति अलग है। आत्मा की एक शक्ति है अनन्यभूत वैभाविक शक्ति, जो कि उपयोग का एक विपरीत परिणमन है और वह कषाय का नाम पाता है।

मिथ्यात्व-संबंधी जो सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है उसका आस्रव कराने वाला कौन है? तो योग के माध्यम से आस्रव होता है ऐसा पहले बताया जा चुका है; किन्तु जो अनंतानुबंधी कषाय के साथ योग का परिणमन हो रहा है; वह मिथ्यात्व-सबंधी सोलह प्रकृतियों का आस्रव करा रहा है और इसके साथ-साथ अनंतानुबंधी की जो पच्चीस प्रकृतियां है उनका भी वह आस्रव करायेगा। अनंतानुबंधी का जिस समय

अभाव होगा और यदि मिथ्यात्व का उदय भी रहा आता है तो वहाँ पर न अनंतानुबंधी संबंधी पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव होता है और न ही मिथ्यात्व संबंधी सोलह प्रकृतियों का ही आस्रव होता है; क्योंकि अनंतानुबंधी कषाय के माध्यम से जो लेश्या बनती है अर्थात् कषाय अनुरंजित योग प्रवृत्ति, उसके अभाव मे अनंतानुबंधी के साथ जो योग चल रहा है वह मिथ्यात्व का आश्रयदाता है; क्योंकि न ही योग की कोटि मे मिथ्यात्व की गिनती आई है और न ही कषाय की कोटि में मिथ्यात्व की गिनती आई है उसका कारण है—मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय संबंधी है, कषाय चारित्र-मोहनीय संबंधी है। और योग तो पारिणामिक भाव है। इस मिथ्यात्व की गिनती योग मे नही है। बंधुओ ! मिथ्यात्व से डरो मत, डरने से वह भागेगा नही। तरीका यही है कि आपत्तिकाल लग जाये तो अपने-आप ही वह मीसा में बन्द हो जायेगा। आपत्तिकाल यह चौथा काल है यह ध्यान रखना चतुर्थ काल। चतुर्थकाल जिस प्रकार कर्मो को हटाने के लिए, मुक्ति को प्राप्त कराने के लिए कारण है उसी प्रकार तीन कालो के अलावा यह चौथा आपत्तिकाल है। न भूत मे, न भविष्य से और न ही वर्तमान से कोई संबंध इसका है। काल तो वैसे तीन ही है, प्रजेन्ट, पास्ट और फ्यूचर—लेकिन इमरजेन्सी यह भी तो एक काल है। यह काल अद्भुत काल है और मिथ्यात्व के लिए भी आपत्तिकालीन कर्फ्यू लगाना चाहो तो वह यही है कि अनंतानुबंधी के साथ रहने वाली जो लेश्या है उस लेश्या को हटा देना। लेश्या मे बदलाहट जो होती है वह बदलाहट कब होती है ? कैसी होती है ? तीव्रता और मंदता के रूप में होती है। जिस समय हम कषाय को मंद बना लेते हैं उस समय लेश्याएँ शुभ होती हैं और शुभ लेश्या होते ही आस्रव को धक्का लगना प्रारंभ हो जाता है।

शुभ लेश्या आत्मा की ही एक अनन्य परिणति है, आत्मा के ही पुरुषार्थ का एक फल है शुभ रूप और अशुभ रूप उसे हम कर लेते हैं; अतः सोलह प्रकृतियों का आस्रव जो होता है वह अनंतानुबंधी के साथ ही होता है परंतु यदि अनंतानुबंधी है वहाँ तो सोलह प्रकृतियों का आस्रव हुआ ऐसा नही है बल्कि वहाँ मिथ्यात्व का उदय भी रहना चाहिये, इसलिए उन्होंने मिथ्यात्व को वहाँ पर सूत्र मे पहले रखा है।

लेकिन चिंतन करने से यह भी फलित होता है कि मिथ्यात्व के साथ भी अनंतानुबंधी को जोड दिया है सूत्र में । कहाँ जोड़ा है ? वहाँ पर तो अनंतानुबंधी का नाम भी नही आया । आया क्यों नही है भइया ! उस सूत्र को आप पढें और उसके ऊपर चिंतन करें तो अपने-आप ही ध्वनि निकलेगी—मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाययोगा बंधहेतवः । इसमें मिथ्यात्व के उपरान्त दूसरा अविरति का नम्बर आता है । अविरति का अर्थ है असयम और असंयम तीन प्रकार का होता है—

असंयमस्य त्रिधा,
अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानोदयत्वात् । (राजवार्तिक) ।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के उदय में जो असंयम होता है वह असंयम तीन प्रकार का होता है । अनंतानुबंधी जन्य असंयम अलग है और अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान जनित असंयम अलग है ।

तो मिथ्यात्व प्रकृति के जाने के साथ मिथ्यात्व तो जायेगा ही, साथ-ही-साथ अनंतानुबंधी उससे पहले जायेगी । इसलिए मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी ये आस्रव के द्वार हो गये दोनों मिल कर के । फिर इसके उपरान्त आता है अविरति । अविरति—दो कषाय इसके साथ जुड़े हैं जिन्हें कहते हैं अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान । तो अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान जब दोनो चले जायेंगे तो अविरति समाप्त हो जायेगी । फिर इसके उपरान्त प्रमाद को स्थान दिया गया है, वह कषाय-संबंधी वह संज्वलन कषाय के तीव्रोदय से संबंध रखता है । इसके उपरान्त कषाय का स्थान है । मात्र संज्वलन कषाय का मंदोदय और अंत में योग को स्थान दिया जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव—नाम पाता है । उस योग का अभाव, जब तक 'योग' धारण नही करेंगे तब तक नही होगा, ध्यान रक्खो । मनोयोग से सुनें आप !

मिथ्यात्व-सहित जो सोलह प्रकृतियो का आस्रव हो रहा है और अनंतानुबंधी जन्य पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव हो रहा है इस प्रकार से जो इकतालीस प्रकृतियों का आस्रव होता है, यह कषाय की ही देन है; अर्थात् कषाय के साथ जो योग अर्थात् लेश्या है उसकी देन है । इस कषाय को हटायेंगे तो मिथ्यात्व-संबंधी सोलह और अनंतानुबंधी पच्चीस प्रकृतियाँ सारी-की-सारी चली जायेंगी । इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करते

समय की भूमिका मे यह जीव करणलब्धि के सम्मुख ही जाता है तो सम्मुख होने तक तो सारी की सारी प्रकृतियों का आस्रव हो रहा था किन्तु ज्यों ही करणलब्धि को प्राप्त कर लेता है और करणलब्धि में भी (चूंकि यह लम्बा-चौड़ा विषय है जो प्रासंगिक है उसी को मैं आपके सामने रखना चाहता हूं) । वह जिस समय अनिवृत्तिकरण काल का उदय तो है किन्तु मिथ्यात्व-उदय संबंधी सोलह प्रकृतियों का, उनके बंध का निषेध किया है इससे ध्वनि निकलती है कि मिथ्यात्व का उदय सोलह प्रकृतियों का आस्रव कराने में समर्थ नहीं है, नहीं है, नहीं है। एक मात्र उसको आकिंचन कह कर साथ में रख रक्खा है।

अत आस्रव और बंध के क्षेत्र में वह अकिंचित्कर है, सिद्ध हो जाता है । फिर मिथ्यात्व क्या काम करता है महाराज ! ध्यान रक्खो उसका भी बड़ा अद्‌भुत कार्य है । मिथ्यात्व जब तक उदय में रहेगा तब तक उस जीव का ज्ञान, अज्ञान ही कहलायेगा; इसलिए वह अनिवृत्तिकरण के वाद अतरकरण कर लेता है और दर्शनमोहनीय के तीन टुकडे करके मिथ्यात्व खंड का उपशम या क्षयोपशम करके वह औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है; इसलिए क्षायिक दर्शन प्राप्त करते समय भी जब मिथ्यात्व का क्षय करता है उस प्रसंग में भी अनंतानुबंधी का क्षय प्रथम बताया और उपशम करते हैं उस समय भी अनतानुबधी का उपशम प्रथम बताया और सम्यग्दर्शन के साथ अनंतानुबधी का उदय नियम रूपेण नही रहता दर्शन मोहनीय का रहेगा तो भी वन सकता है । इस दर्शन मोहनीय के तीन टुकडे हैं उनमें सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे भी सम्यग्दर्शन रह सकता है, लेकिन चारित्र मोहनीय अनंतानुबंधी संबधी एक कषाय का भी उदय हो तो ध्यान रखना सम्यग्दर्शन वहाँ से उड जायेगा । सम्यग्दर्शन के खिलाफ जितना अनंतानुबंधी है उतना दर्शनमोहनीय भी नहीं, ऐसा इससे सिद्ध हो जाता है । इसलिए आस्रव और बंध के क्षेत्र में जो मिथ्यात्व को हौआ (भय) बना रखा है और जिससे डरा रहे हैं वह तीन काल में भी हौआ नहीं है और यह आस्रव और बंध के क्षेत्र में अकिंचित्कर है ।

जो कुछ भी आस्रव के कारण है वह है–"आतम के अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाय।"

हाँ ! मिथ्यात्व को हटने चले हैं आप लोग और विषयो में, कषायों में आपकी प्रवृत्ति होती जायेगी तो तीन काल में भी मिथ्यात्व को नही हटा सकेंगे आप, यह ध्यान रक्खे। इस प्रकार की चर्चा तीन काल तक ही नहीं बहुत काल तक भी करेंगे तो भी मिथ्यात्व हटने वाला नही है क्योंकि मिथ्यात्व को बुलाने वाले एक जबरदस्त बड़े बाबा बैठे है। बड़े बाबा चले जाये, छोटे बाबा नही भी जाये तो यह ध्यान रखना छोटे बाबा का कोई प्रभाव नही पडता, बड़े बाबा का ही पडता है। अनतानुबंधी वडा बाबा है, ध्यान रक्खे। एक दृष्टि से कहना चाहिए मिथ्यात्व पुत्र है और अनंतानुबधी बाप है और बाप का भी बाप है, क्योकि मिथ्यात्व का आस्रव कराना, मिथ्यात्व के लिये निमत्रण देना और मिथ्यात्व के लिये जगह देकर उसको शान्ति से बैठाना यह जो कोई भी कार्य है सभी अनतानुबंधी के सद्भाव म होते है, किन्तु अनंतानुबधी बहुत चालाकी के साथ उसका आमंत्रण करता है और चालाकी के साथ उसका सबध करता है। उसकी चालाकी अलग है कि वह बैठा-बैठा मिथ्यात्व को आमंत्रण देता रहता है। जब तक अनंतानुबधी का उदय रहेगा तब तक मिथ्यात्व इन्व्हाइटेड रहेगा ही एडवान्स में। उसको आप रोक नही सकते। मिथ्यात्व का कोई द्वार है तो अनतानुबधी है।

'अनत मिथ्यात्व बध्नाति इति अनतानुबधी'। मिथ्यात्व अनत है बिल्कुल ठीक है लेकिन मिथ्यात्व रूपी अनत को बाँधने वाला कौन है? वह है अनतानुबधी, जो इसका सार्थक नाम है। जो व्यक्ति इसको कषाय की कोटि मे, चारित्र मोहनीय की कोटि मे, रखकर और मिथ्यात्व को हटाने का चिंतन करता है तो वह दरवाजा तो बन्द कर रहा है सामने का किन्तु पीछे वाले दरवाजे को तो खुला रक्खा है और चोर आ रहे है और वह बताता है कि मै तो दरवाजा बन्द करके ही सोया हूँ। दरवाजा कहाँ बंद किया है भइया ?

अनतानुबधी-अनुरंजित योग, यह मिथ्यात्व के लिये कारण है इसलिये अनतानुबधी का उदय समाप्त होते ही तत्त्व-चिंतन की धारा और मिथ्यात्व के ऊपर घन पटकने की शक्ति, आत्मा मे जागृत होती है और यह अनतानुबधी के अभाव मे ही संभव है। जिस समय दर्शन मोहनीय कर्म के तीन खंड करते है उस समय खंड करने की जो शक्ति

उद्‌भूत होती है वह अनंतानुबंधी के उदय के अभाव में होती है। अनंतानुबंधी का उदय जब तक चलता है तब तक शक्ति होते हुए भी वह मिथ्यात्व को चूर-चूर नही कर रहा है। क्यों नही कर रहा? क्योंकि अनंतानुबंधी कहता है कि मैं अभी जीवित हूँ तो तू कैसे कर सकता है। मेरे साथ लड़, पहले मुझे हरा दे, फिर आगे अपना काम करना। मिथ्यात्व तो कुछ भी नही करता; जैसे ही अनंतानुबंधी समाप्त होता है मिथ्यात्व कहता है मुझे मारो मत। मुझे मारो मत, मैं जा रहा हूं। इतना कमजोर, इतना कमजोर है मिथ्यात्व कि कुछ कहो ही मत। मिथ्यात्व के उदय में भी तत्त्व चिंतन की धारा चल रही है कोई बाधा नही है और मिथ्यात्व के उदय में भी आस्रव ज्यों-का-त्यों रुक गया, इकतालीस प्रकृतियों का आस्रव रुक गया और मिथ्यात्व का उदय है। यह किसकी देन है, यह मिथ्यात्व को हटाने की देन नही है। संवर तत्त्व का प्रसंग आयेगा उस समय बता दूंगा। यह मात्र आत्म-पुरुषार्थ की बात है, उपयोग को केन्द्रीभूत करने की बात है। योग को शुभ के ढाचे मे ढालने की एक प्रतिक्रिया है और कुछ नही है। यह पुरुषार्थ आत्मायत्त है, कर्मायत्त नही है, इसीलिए **धवला** मे उन्होंने कह दिया कि अर्ध पुद्‌गल परिवर्तन काल हम अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल पर रख सकते हैं कथंचित्, अर्ध पुद्‌गल परिवर्तन काल को रख कर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की उपलब्धि बताई गई है आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा स्वतत्र है, पर भूला है, भटका है, उसको सुलझाने की अति आवश्यकता है। तो इकतालीस प्रकृतियों का आस्रवदाता जो था अनतानुबधी, वह ज्यो ही चला जाता है त्यो ही सम्यग्दर्शन क्यो नही आयेगा। अवश्य आयेगा, नाचता हुआ आयेगा। 'बाधक कारण अभावात् साधक कारण सद्‌भावात्।' क्यो नही आयेगा अवश्य आयेगा, आयेगा, आयेगा।

सर्व प्रथम अनंतानुबधी जानी है। अनंतानुबधी पिता है। पिता से डरो, न कि पुत्र से; बडी अद्‌भुत बात सुनते है हम, दर्शन मोहनीय को तो पिता, बड़े बाबा कह देते है, बडे भइया कह देते है और छोटे भइया चारित्र मोहनीय को कहते है। मै कहता हूं जो कोई बड़े भइया है वह सारा-का-सारा कषाय ही तो है और कषाय में भी अगर कोई बड़े बाबा हैं तो वह

है अनंतानुबंधी। 'मिथ्यात्व—आस्रव और बंध के क्षेत्र में अकिंचित्‌कर है।' इसे नोट कर लेना।

जब इस तरह आस्रव-तत्त्व का वास्तविक ज्ञान होता है तब हम आस्रव से बच भी सकते हैं। 'बिन जाने ते दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये ?'

गुण का ज्ञान और दोष का ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक तो किसी भी प्रकार से हम दोषो से बच नहीं सकते और मोक्षमार्ग में हमारे लिये गुण जो है वह है संवर और दोष जो है वह है आस्रव। तो आस्रव क्या है यूं कहना चाहिये आत्मा का ही एकमात्र योग-वैभाविक परिणाम है। अब यह सिद्ध करना चाहूँगा कि मिथ्यात्व के उपरान्त जो अविरति सूत्र मे आई है वह अविरति अप्रत्याख्यान-संबधी और प्रत्याख्यान-संबधी, शेष है। इसको मिटाने वाला भी वही पुरुषार्थ है जो आत्मा को केन्द्री-भूत करके आत्मा को विषय और कषायों से बचाने का है। फिर इसके उपरान्त आता है प्रमाद-संज्वलन का तीव्रोदय। उसको भी समाप्त करने का यही रास्ता है क्योंकि प्रमाद किसी कर्म की देन नही है, किन्तु आत्मा के ही एक मनचलेपन का नाम है। आत्मा जब अपने-आप के प्रति अनुत्सुक हो जाता है तो प्रमाद आ जाता है। अब आती है कषाय। तो कषाय तो ज्यों-की-त्यो है उसी का उदय आ जाता है। कषाय तीव्र भी तब कहलाती है जब एक दृष्टि से हम लोग कषाय के उदय मे अपनी जागृति को खो देते है, जैसा—

"कषायोदयात् तीव्र परिणाम· चारित्र मोहस्य"—इसमे व्याख्यान किया है कि तीव्र परिणाम ही कषाय नही, कषाय का तो उदय है, तीव्र परिणाम हम कर लेते है और चारित्र मोह आत्मा मे यदि कषाय के परिणाम पैदा ही करता रहे तो आत्मा के लिये पुरुषार्थ हेतु जगह ही नही है, परतु इस प्रकार से भी आत्मा इतनी लुटी हुई नही है, परतंत्र नहीं है स्वतंत्र है; किन्तु निमित्त-नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा से कथन आता है। इस प्रकार प्रमाद के उपरान्त कषाय आती है जो संज्वलन के मंदोदय संबंधी है उसको भी घटा देता है समाप्त कर लेता है; फिर इसके उपरान्त ध्यान रखना पुण्य और पाप की बात हम बार-बार करते रहते हैं। पाप का आस्रव तो रुक जाता है क्योंकि—'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य'।

यह पाप का आस्रव रुका क्यों ? आप-से-आप ही रुक गया क्या ? नहीं। जो योग अशुभ हो रहा था उसको शुभ बनाया हमने, तो किसके माध्यम से बनाया। अपने-आप ही नही, उसे ऐसा संयम के माध्यम से बनाया। **संयम के माध्यम से पाप के आस्रव को रोका जाता है। संयम के बिना पाप को रोका ही नहीं जा सकता इसलिये संयम आस्रव कराने वाला नहीं है। यह भी ध्यान रखो;** किन्तु संयम के साथ यदि आत्मा की परिणति संयममयी नही है तो उस समय वह शुभ का आस्रव कराता है; लेकिन सयम के माध्यम से केवल शुभ का ही आस्रव होता है ऐसा भी नही है। कषाय जाने के बाद जो योग रहा उसमें ईर्यापथ-आस्रव केवल, पुण्य का आस्रव होता है, नहीं भी चाहो तो भी होता है। हम क्या करे, जबरदस्ती ही कोई लाटरी लाकर के हमारे सामने रख दे तो हम क्या ऐसा कहेंगे कि मुझे तो नही चाहिये ? नहीं नहीं भइया। आपके बिना तो कोई पात्र ही नही है इसका, और ऐसा भी तो नही है कि रखना चाहो तो रख लो अन्यथा नहीं। वह तो रखना ही पडेगा। तो केवल योग मात्र रहने पर पुण्य का आस्रव होगा, होगा, होगा। उसको कोई रोक नही सकेगा, क्योकि योग अब केवल शुभ ही रह गया है। अब जब तक वह रहेगा तेरहवे गुणस्थान के अतिम समय तक, तो वह पुण्य का आस्रव करायेगा ही, यह ध्यान रक्खो।

यह योग किसी कर्म की देन नही है—यहाँ पर भी सिद्ध हो रहा है; क्योकि चारो घातिया कर्म निकल गये है। फिर भी सयोग केवली बने हुए है, योग ज्यो-का-त्यो बना हुआ है और शुभ (पुण्य) का सब क्षेत्र में आस्रव हो रहा है। अशुभ का आस्रव कतई नही होगा। अब योग से होने वाले आस्रव को रोकने का प्रसग आता है। केवली भगवान् सोचते हैं कि जब तक आस्रव द्वार रुकता नही तब तक मुझे मुक्ति मिलेगी नही क्योंकि आस्रव संसार का निर्माता है और संवर निर्वाण का, मुक्ति का निर्माता है। तो मुझे संवर करना चाहिये। अब किसका करना संवर ? किसी कर्म का करना। कर्म का संवर नहीं करते वहाँ। वह तो योग का ही निरोध कर देते है। उस योग का ही निरोध कर देते हैं जो आत्मा का अशुद्ध (वैभाविक) पारिणामिक भाव है; क्योंकि अशुद्ध पारिणामिक भाव से ही कर्म का आस्रव होता है, यह ध्यान रखना। कषाय के साथ

यदि योग है तो अशुभ का आस्रव होता है और कषाय रहित यदि योग रहता है तो केवल शुभ कर्म का आस्रव होगा; इसलिये यदि आप पुण्य से बचना चाहते हो तो संयम से मत बचो, योग से बचो किन्तु योग से आपके बाबा भी नही बच सकते। इसलिये कि उससे केवली भगवान् बड़े बाबा भी नहीं बच पाये तो आप इस समय कैसे बचोगे ? उससे बचने की प्रक्रिया ही अलग है। इससे बचने का, उसका निरोध करने का उपाय है, तृतीय शुक्ल ध्यान।

तृतीय शुक्ल ध्यान के बिना योग निरोध को प्राप्त नही होता, उसका निग्रह नही तब तक शुभ का आस्रव होगा, होगा, होगा, इसलिये आचार्यों ने कहा है कि पुण्य से मत डरो किन्तु उसके फल से डरो। पुण्य से मत डरो, पुण्य के आस्रव से मत डरो और आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने तो पुण्य को इस परिभाषा के अन्तर्गत रखा है कि पुण्य वह है–**पुनाति आत्मानम् इति पुण्यम्।**

आत्मा को भी पवित्र कराने की सामग्री-रसायन यदि विश्व में कोई है तो वह आत्मा के पास जो शुभ योग है वही है और वही पुण्य है और उस पुण्य के माध्यम से ही केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, लेकिन केवल पुण्य ही होना चाहिये यह भी ध्यान रखना। केवल-'ज्ञान' जिस प्रकार आप कहते हैं उसी प्रकार केवल-'पुण्य' जिस समय आत्मा को प्राप्त होगा उस समय अंतर्मुहूर्त के उपरान्त आप केवलज्ञानी बन जाओगे। यथाख्यात चारित्र जिस समय जीवन मे आ जाता है ग्यारहवं, बारहवें, तेरहवे गुणस्थान मे ज्यो ही वह यथाख्यात चारित्र को प्राप्त होता है त्यो ही पुण्य का ही मात्र आस्रव होता है, होने लग जाता है। और पुण्य मात्र का आस्रव अंतर्मुहूर्त के लिये पर्याप्त है, आत्मा को केवल ज्ञान प्राप्त कराने मे, लेकिन पाप का पूर्ण निरोध होना चाहिये। यह प्रसग दसवें गुणस्थान तक नही आ सकता, केवल पुण्य का आस्रव दसवें गुणस्थान मे पहले नही, दसवे गुणस्थान के बाद होता है। अब इसके उपरान्त मात्र पुण्य जो है वही उस आत्मा को पाप से बचा सकता है, किन्तु पुण्य को हटाने वाला कौन ? पुण्य के फल को हटाने वाला तो संयम है। संयम पुण्य को नही हटा सकता, यह ध्यान रखना, इसीलिये आचार्यों ने पंचेन्द्रिय के विषय को विष्ठा कहा है पुण्य को

विष्ठा नहीं कहा। यदि पुण्य को विष्ठा कह दें तो केवली भगवान् भी विष्ठा से लिप्त हो जायेंगे और यह तो आगम का अवर्णवाद है, अवज्ञा का एक प्रकार है। हाँ पुण्य में जो इच्छा करता है वह इच्छा है विष्ठा, पुण्य विष्ठा नहीं है, ध्यान रखो। सब से ज्यादा पुण्य का आस्रव होता है तो यथाख्यात चारित्र के उपरान्त ही जो केवली भगवान् हैं उनको होता है; किन्तु वे "निरीहवृत्तित्वात्"—निरीह वृत्ति होने के कारण उसमें रचते-पचते नहीं हैं, रमते नहीं है। दुनिया का ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो इतना पुण्य प्राप्त कर ले। और उनको भी यह चिंता हुई (आपके समान नहीं है) कि यह आस्रव कम-से-कम पुण्य के रूप में तो आ ही रहा है और पटक रहा है और आत्मा के एक-एक प्रदेश से टकरा रहा है। इसे भी कैसे हटा दिया जाये; वह कौन-सी प्रक्रिया है? वह कौन-सी शक्ति है? जिसके माध्यम से इसे रोक दूं तो उन्होंने तृतीय शुक्ल ध्यान का प्रयोग किया तब उस समय शुभ का आस्रव रुक जाता है। पुण्य कहता है अब तो आपने बिल्कुल ही दरवाजा बन्द कर दिया, आगे का दरवाजा भी बन्द कर दिया और पीछे का भी दरवाजा बन्द कर दिया, बिल्कुल ही लाक-आउट कर दिया अपने आप में।

आत्मा से जिस समय योग का निग्रह होता है तो पुण्य का आस्रव भी बंद हो जाता है उस आस्रव का होना रुक जाता है और ज्यो ही आस्रव होना रुक जाता है चौदहवें गुणस्थान में यूं ही छलांग मारते है, वहाँ रुकते नही है यूं यूं करके बस यूं पहुंच जाते है। पुण्य के आस्रव के उपरान्त संसार की स्थिति मात्र अ, इ, उ, ऋ, लृ पच लघु स्वर अक्षरों के उच्चारण प्रमाण काल शेष रह जाती है और वह मुक्ति के भाजन हो जाते है। अब यहाँ योग का अभाव हुआ; किन्तु चार कर्म शेष रहे यह ध्यान रखना। कर्म का उदय संसार में जकड़ नही सकता, कर्म का उदय आत्मा में किसी प्रकार से अपना रिफलेक्शन, अपना प्रभाव नही डाल सकता।

चौदहवें गुणस्थान में चार अघातिया कर्म शेष हैं और उनमे साता वेदनीय भी है असाता वेदनीय भी है, दोनों है ऐसा आचार्य कहते हैं। इससे यह फलित हुआ कि वे चारों कर्म उदय को प्राप्त होते हुए भी,

काम नहीं कर रहे क्योंकि काम करने वाला जो था योग, वह चला गया। इसलिये उन चारों कर्मों की निर्जरा के लिये चौथा शुक्ल ध्यान वे अपना लेते हैं। इस तरह योग अन्त में जाता है और योग जो है वह केवल पुण्य का ही आस्रव कराता है इसलिये पुण्य से यदि बचना चाहो तो ठीक है बच सकते हो लेकिन पाप से नही बच सकोगे उस समय।

अतः सर्व प्रथम सांपरायिक आस्रव ही रुकेगा फिर उसके पश्चात् ईर्यापथ आस्रव, जो पुण्य का आस्रव है, वह रुकेगा। तो पहले का काम पहले करना चाहिये, बाद का काम बाद में। सौंफ इत्यादि आप पहले खा लो, बाद मे रोटी खाओ तो आपको पागल ही कहेंगे लोग। खाने की विधि आपको नही मालूम। इलायची पहले खा लो, सौंफ पहले खा लो तो मजा भी नही आयेगा भइया! वे सौंफ और इलायची आदि जो भी होते हैं दाँत मे अटक जायेंगे और खाना खाने में स्वाद भी नही आयेगा। वह चर्पण बाद मे ही ठीक है। इसलिये भइया! पहले पाप से तो निवृत्त हो और पाप से निवृत्त होने के लिये, पाप को हटाने वाला, पाप के आस्रव को रोकने वाला है सयम और पुण्य के आस्रव को रोकने वाला यह चौथा निग्रह है। इस प्रकार सक्षेप में समझना चाहिये।

अत. आस्रव-द्वार पाँच है, किन्तु पाँच में भी मिथ्यात्व के साथ अनंतानुबंधी को रख रक्खा है यह ध्यान रखना चाहिये; क्योकि अविरति अनंतानुबधी के अभाव में भी रहती है इसलिये अविरति से अनंतानुबंधी का कोई संबध नही है यद्यपि अनतानुबधी के साथ भी अविरति रह सकती है तो मिथ्यात्व के साथ अनंतानुबंधी पहले जाती है फिर बाद मे मिथ्यात्व जाता है और पहले जो जाता है उसको पहले भेजना चाहिये और बाद मे जो जाने वाला है उसकी कोई फिकर करने की आवश्यकता नही है। विषयों में जो बार-बार झंपापात लेना है वह अनंतानुबधी का स्थूल प्रतीक है। स्थूल है, सूक्ष्म नही।

'बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः'

यह अनतानुबंधी के माध्यम से ही बन सकता है; क्योकि नरकगति का बंध अनंतानुबंधी के साथ ही होता है और दूसरी बात/दूसरा सूत्र इस अनंतानुबंधी से बचने का है–

'परात्मनिंदाप्रशंसासदसद्गुणोच्छादनोद्भावेन च नीचैर्गोत्रस्य।'

इसलिये मैं कह रहा हूँ कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिये आया है उसके लिये यह रास्ता बहुत अच्छा रहेगा। प्राय: करके पूज्यपाद ने **तत्त्वार्थसूत्र** की व्याख्या करते हुये **तत्त्वार्थसूत्र** मे ही कहा है कि जो मोक्षमार्गी बनेगा, जो मोक्ष की इच्छा रखेगा वह स्वहित की लिप्सा रखता है, पर-हित की नही। इसलिये वह पर की तरफ दृष्टि तो करता ही नहीं। लेकिन यह सूत्र जो है पर की ओर दृष्टिपात करा रहा है। इसका अर्थ यह है कि जो पर की निंदा करता है वह आत्मा की प्रशसा करता है आत्मा की अर्थात् शुद्धात्मा की नहीं। आत्मा अर्थात् यहाँ पर्याय-संबधी मनुष्य तिर्यंच आदि लेना। इसके उपरान्त, पर की निंदा और आत्मा की प्रशसा, पर के गुणो को ढकना और अपनी आत्मा में नही होते हुए गुणो को भी उघाड़ना इत्यादि जो कार्य हैं ये नीच गोत्र के कारण हैं, क्योंकि छठे अध्याय में आस्रव का उल्लेख है और यह सूत्र उसी में आया है। इससे यह फलित होता है कि नीच गोत्र का आस्रव भी कब तक होता है। जिसने सिद्धान्त देखा है **गोम्मटसार** इत्यादि, उन ग्रंथो मे इसका उल्लेख मिलता है कि नीच गोत्र का द्वितीय गुणस्थान तक ही आस्रव होता है। आस्रव होता है तो बध भी होता है। तो द्वितीय गुणस्थान तक आस्रव है इसका अर्थ यह हुआ कि अनतानुबधी के माध्यम से ही इसका आस्रव होता है और इसके आस्रव के लिये भाव कौन से हैं, पर की निंदा करना। बहुत बढ़िया। आजकल यह प्राय: यत्र-तत्र देखने-सुनने को मिल रहा है और अपने को एक विकल्प बार-बार उठता है कि उपदेश सुनाओ, महाराज! लेकिन आज उपदेश का प्रयोग भी इतना ही कर लेते हैं कि दूसरे को सुनाकर और उसके माध्यम से दूसरे को नीचा दिखाने का एक मात्र उपक्रम रच लेते हैं। शास्त्र का प्रयोग अपने लिये है दूसरे को समझाने के लिये नही है। दूसरा यदि अपने साथ समझ जाता है तो बात अलग है किन्तु उसको बुला-बुलाकर आप उपदेश दोगे तो आगम में कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि यह जिनवाणी का एक दृष्टि से अनादर होगा, उस प्रसंग में क्यों वह कि रुचिपूर्वक सुनेगा नहीं अथवा सुनेगा तो उसका वह कुप्रयोग कर देगा और इससे आप भी दोष के पात्र बन जाते हैं। इसलिये पर की निन्दा करना, तीन काल में भी

सम्यग्दर्शन की भूमिका में बन नहीं सकता क्योंकि वह अनंतानुबंधी के बिना नहीं हो सकता। नीच गोत्र का बंध जो होता है वह अनंतानुबंधी के भावों के माध्यम से होता है अतः अनंतानुबंधी है तो मिथ्यात्व तो है ही इसमें कोई संदेह नहीं। अत: इस प्रकार हम इन्डायरेक्टली शास्त्र पढ़ते हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त कर रहे हैं—ऐसा समझते हुए भी मिथ्यादर्शन को यूं ही पिछले भाग से बुला रहे हैं।

अत. अपने को उस भूत मिथ्यात्व से बचना है जो हमारे मोक्षमार्ग में रोड़ा अटका रहा है, गलत भाव पैदा कर रहा है। सही क्या, असत्य क्या, यह देखने समझने तक नहीं दे रहा है। इसलिये बंधुओ! यदि इसको हटाना चाहते हो तो मंद से मंदतर और मंदतर से मंदतम कषाय को बना दो। जब विषयों और कषायों से बच जाओगे तब चिंतन की धारा प्रवाहित होगी और तत्त्व चिंतन की धारा से हम उस सम्यग्दर्शन रूपी सरोवर में अवगाहित हो जाते हैं। अपने आपको समर्पित कर सकते हैं, शुद्ध बन सकते हैं, बुद्ध बन सकते है, लेकिन इस भूमिका के अभाव में कुछ भी नहीं बन सकते हैं जहाँ हैं वही पर रह जायेंगे, बातो-बातों तक, चर्चा तक ही बात रह जायेगी। इसलिये ये सारी की सारी घटनायें अतर्घटनायें है, ये बाहरी चीजें नही है; मोक्षमार्ग एक अमूर्त मार्ग है जिसके ऊपर कोई चिन्ह या पद नही, कोई निशानी, कोई बोर्ड नही। किसी प्रकार के कोई पत्थर जडे हुए नही है एक मात्र श्रद्धा का विषय है और उसी श्रद्धा से अपने आपको कुछ बना सकते है आप। उस श्रद्धा को जागृत कर सकते है, विषयो से, कषायों से, आँख मीचो और उन आँखों का प्रयोग अपने तत्त्व को जानने के लिये करो। तो बहुत जल्दी अपने लिये सही रास्ता प्रशस्त हो सकता है अन्तर्मुहूर्त का काम है।

अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया जा सकता है और अन्तर्मुहूर्त मे ही मुक्ति के भाजक भी हम बन सकते है। इस प्रकार आत्मा की एक प्रतिभा है, गरिमा है, महिमा है उसको देखने की आवश्यकता है। क्यों अनंत ससार में ही आप भटकने का उपक्रम कर रहे हो? जब कभी भी देखेंगे इस संसार में अनंत मिथ्यादृष्टियों का बोलबाला रहेगा और सम्यग्दृष्टियों की संख्या सीमित ही रहेगी, इसलिये अपने आप के सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखना चाहते है तो मिथ्यादर्शन के रखने वाले बाजार में जाकर आप उसकी प्रशसा नही सुन सकेंगे क्योंकि वहाँ पर बाहुल्य

जो है मिथ्यादर्शन का है और बहुतायत की ही चर्चा प्रायः कर फैल जाती है इसलिये आपका सम्यग्दर्शन भी वहाँ अनादर को प्राप्त हो कर निकल जायेगा।

अतः जल्दी-जल्दी घर की तरफ से मन को मोड़ कर अर्थात् आस्रव से मुँह मोडकर अपने आप की ओर आना ही मोक्षमार्ग है। बाह्य जितना भी है वह सब भव पद्धति है। ये सारे के सारे संसार के मार्ग हैं। संसार के मार्ग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है उनके माध्यम से आस्रव होता जा रहा है, अतः ससार मार्ग को छोड़कर सवर मार्ग पर आना है। जो आस्रव को नही जानेगा वह संवर को तीन काल में भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। जब तक आस्रव को नही जानेगा, आस्रव के कारण को नही जानेगा, कौन से भावों से आस्रव होता है इसको नही जानेगा तब तक कर्मों को रोकने का कोई उपक्रम उसका सराहनीय ही नही होगा और वह निंदा का पात्र बन जाता है। कहना चाहिये वह थक जायेगा उस उपक्रम से किन्तु कोई सिद्धि मिलने वाली नही है।

अतः आस्रव और बंध के क्षेत्र मे वह मिथ्यात्व अकिंचित्कर है और मिथ्यात्व अनंतानुबंधी के बाद मे जाने वाला है। इसलिये मिथ्यात्व का आस्रव कराने वाली अनंतानुबंधी कषाय है और उस अनतानुबधी कषाय को निकालने का उपक्रम यही है कि हमारी जो अशुभ लेश्या है उसको शुभ बना लें, शुभतम बना लें और शुभतम जब लेश्या बनेगी तो अनंतानुबंधी को धक्का लगेगा। अनंतानुबंधी चली जायेगी तो ये सारे के सारे आस्रव रुक जायेंगे। और मिथ्यात्व भी अपने आप हाथ जोड़कर चला जायेगा। इस मिथ्यात्व को हटाने का यह सही रास्ता है आगमानुकूल है। अन्य जो भी मार्ग है आप देखेंगे वे आगम से विपरीत होंगे सर्व प्रथम मिथ्यात्व हट नहीं सकता और मिथ्यात्व को हटाने वाले यदि अनंतानुबंधी को हटाये बिना सर्वप्रथम उसे ही (मिथ्यात्व को) हटाने का आग्रह करेंगे तो तीन काल में भी उसे हटा नही सकेंगे और दूसरों को हटाने भी नही देंगे; यह ध्यान रक्खो; अतः यही सही मार्ग है आगम के अनुकूल मार्ग है।

महावीर भगवान् की जय !

बंध तत्त्व

ओम् नमः सिद्धेभ्यः !

संसारी प्राणी की दशा अनादिकाल से दयनीय हुई है। यद्यपि यह संसारी प्राणी सुख का इच्छुक है और दुःख से डरता भी है, किन्तु सुख को प्राप्त नहीं कर पा रहा है और दुःख का विछोह भी नही कर पा रहा है। यह क्यों हो रहा है ? तो इसमें एक कारण है। चूंकि सुख अनादि-काल से प्राप्त नहीं है इसे, इसलिये मात्र अनादिकालीन दुःख का अनुभव करने का इसका स्वभाव-सा बन गया है या यूं कहना चाहिये कि विभाव बन गया है एकदम स्वभाव के समान। क्योंकि अनादिकाल से दुःख की ही रेणु आ रही है; लेकिन यह स्थिति हुई क्यों ?

आचार्य कहते है कि यह प्राणी प्रत्येक समय उस दुःख की सामग्री को अपनाता जा रहा है। शुरूआत से ही अनादिकालीन सामग्री हो और उसी का परिणमन आज तक उसे दुःखरूप में भोगना पड़ रहा हो—ऐसा नहीं है। अगर अनन्त काल से उस सामग्री का अभाव नही हुआ तो आगे के भी अनन्त काल मे इसका अभाव नही होगा यह ध्यान रखो। तो यह प्राणी प्रत्येक समय उस दुःख की सामग्री को अपनाता जा रहा है और सतत दुःख का अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार आप लोग दुकानदारी में बेलेन्स को मजबूत रखकर दुकानदारी करते है उसी प्रकार यह संसारी प्राणी आप सभी वर्तमान मे दुःख की सामग्री इकट्ठा करने में लगे हुए है।

यूं कहना चाहिये कि प्रत्येक संसारी प्राणी एक उद्योगपति है और उद्योगपति कभी भी अपनी पार्टी को फेल नही होने देता और दिवालिया नही कहलाता। उसकी पार्टी उसकी दुकान चलती रहती है क्योंकि बेलेन्स मजबूत है। वह प्रत्येक समय कार्य करता जा रहा है। इस सांसारिक क्षेत्र में वह अपने कार्य को करने में इतना सजग है और सुचारु रूप से अपने कार्य को संभाल रहा है क्योंकि वह चाहता है सुख की प्राप्ति और दुःख की व्युच्छित्ति, परन्तु प्रत्येक समय वह स्वतंत्र होते हुए भी यह बंधन का कार्य करता जा रहा है, और इसी बंध-तत्त्व के बारे में आपको कुछ सुनाना है, बताना है।

बंध से डरना, यह भव्य का कार्य है। भव्य कहते हैं होनहार को। आपके परिवार में कई बच्चे होते हैं लेकिन होनहार एकाध को ही आप कहते हैं। तो होनहार कुछ प्राणी अलग होते हैं जो बंध से डरते हैं। बंध से डरना इतना ही नहीं बल्कि बंध के कारणों से भी डरना—यह परम आवश्यक है मुक्ति की प्राप्ति के लिये। दस-पंद्रह वर्ष पूर्व की बात है एक पेड़ के नीचे आसीन था मैं। और देख रहा था, उस 'आक' के फूल को जो बहुत हलका होता है और देखने में भी बहुत सुहावना होता है, रंग भी सफेद होता है उसका। वह इतना हल्का फूल होता है कि उसके सामने मखमल भी नमोस्तु करता है। एक बार यदि कोई बच्चा देख ले उसे, तो वह भी उस फूल के समान उडकर, उसको पकड़ने का प्रयास करता है। मैं देख रहा था वह फूल बिना हवा के भी उड़ता रहता है और ज्यादा हवा आ जाये तो फिर उडता नही है। हवा के झोंके के साथ वह नीचे आ जाता है, संभाल नही पाता अपने आपको और नीचे आकर जैसे ही कोई गीली चीज मिल गयी बस! वही चिपक जाता है।

इसको कहते है मयोग। ज्यो ही वह चिपक गया उसका स्वभाव, जो उड़ने का था वह समाप्त हो गया और यो थोडे ही समय के अदर सारी-की-सारी वह फुलवारी समाप्त हो गयी। कब वह पंखुड़ियाँ टूट गयी कुछ पता नही। अब उसका अस्तित्व भी समझना मुश्किल हो गया। एक बार आर्द्रता के साथ संयोग का यह परिणाम निकलता है तो बार-बार यह जीव राग-द्वेष रूपी आर्द्रता का संयोग करते ही रहे तो फिर क्या होगा? आप ही सोचो। आप ऊर्ध्वगमन कर सकोगे क्या? जो आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार वह 'आक' का फूल आर्द्रता के संयोग में आ गया है और अपने उड़ने के स्वभाव को खो बैठा है उसी प्रकार यह आत्मा प्रत्येक समय, रागद्वेष की संगत में अपने ऊर्ध्व-गमन स्वभाव को भूल गया है और सयोग की सामग्री हर समय खरीदता ही जा रहा है, आगे के लिये। बीजारोपण करता जा रहा है। जिस प्रकार कृषक फसल काटता है, और सर्वप्रथम उसको खाने से पहले, बीज की व्यवस्था कर लेता है उसी प्रकार आप भी एक कुशल कृषक के समान, कर्मों का फल भोगते भी जा रहे है और आगे बोने के लिये बीज (नये कर्म) की व्यवस्था भी कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय एक कर्म विशेष निकलता है तो उसे आप भोगते भी है साथ-ही-साथ कुछ बीज

भी निकाल लेते हैं। नये कर्मों के साथ संयोग भी हो जाता है और इस संयोग का अर्थ है बंध। जहाँ संयोग होगा वहाँ आस्रव तो हो ही रहा है और आस्रव का अर्थ क्या है योग। और योग अर्थात् **समीचीन रूपेण योगः इति संयोगः।'**

तथा संयोग का अर्थ है—

'समीचीन रूपेण आलम्बनाय इति संयोगः'

संयोग होने के उपरान्त यदि वहाँ आर्द्रता है, चिकनाहट है, रागद्वेष है, तो बंध हो जाता है।

'अन्योन्यप्रदेशानप्रवेशात्मको बंधः। कयोः? कर्मात्मनोः।'

कर्म और आत्मा का ऐसा संयोग होने के उपरान्त गठबंधन हो जाता है और वे एक-दूसरे को स्थान दे देते हैं। यूँ कहना चाहिये, दोनों के बीच बंधन हो जाता है, एकमेकता हो जाती है, यही बंध है।

दो के बिना बंध नही होता—यह ध्यान रखना। एक हाथ से ताली जिस प्रकार नही बज सकती, उसी प्रकार बंध तत्त्व भी एक के बीच में नहीं हो सकता। सांसारिक जो विषय-सामग्री है और उसका भोक्ता जो आत्मा, ये दोनों संयोग होते ही बंध जाते हैं। अब यह देखना है कि यह कैसा बंध हो जाता है? कैसा संबंध हो जाता है? एक उदाहरण के माध्यम से समझ लें आप।

स्कूल में एक बच्चा और एक बच्ची पढ़ते हैं। बाल्यावस्था की बात है, निर्विकार पढ रहे हैं और भाई-बहन के समान पढ़ रहे हैं। फिर जब पढ़ते-पढ़ते बड़े हो जाते हैं तो अपने-अपने बच्चो के ऊपर माँ-पिता का ध्यान जाता है और विचार उत्पन्न होते हैं कि अब ये बड़े हो गये, इनकी शादी कर देनी चाहिये। हाँ! अब संबंध देख लो वह लड़की की माँ कह देती है अपने पति से। अब संबंध करना है कि नही? क्या कान बंद करके सो रहे हो? मैं तो मात्र जगा देती हूँ। ऐसा न हो कि दुकान में व्यस्त हो जायें आप। अब यह जिम्मेदारी आप की है, बाहर घूमते हो कहीं-न-कहीं संबंध निपटाना चाहिये। इसके साथ-ही-साथ लड़का भी बड़ा हो गया, बहू नहीं लाओगे क्या? इधर जो लड़के की माँ है वह कहती है। अब ये दोनों बच्चे तो बचपन में खेलते थे, कूदते थे, साथ-साथ उठते-

बैठते थे। तो माँ-पिता ने सोचा प्रेम भी है इन्हीं को जोड़ दिया जाये तो बहुत अच्छा है और दोनों का संबंध/विवाह-लग्न हो जाता है। लग्न का अर्थ संस्कृत में एक-दूसरे से मिल जाना, सलग्न हो जाना ही है।

'समीचीन रूपेण लग्न. सलग्न.।'

समीचीन रूप से एक विचार मे, एक आचार मे बंध गये। अब कहाँ बंध गये, कोई रस्सी आदि से बाँध दिया है क्या वहाँ ? नही। संबंध हो गया, पाणिग्रहण हो गया, लेकिन डिस्टेन्स (दूरी) दीखता है। डिस्टेन्स दीखते हुए भी यह संबध हो गया। पहले जो साथ-साथ खेलते-कूदते थे, पढते थे अब तो घूंघट मे आ जाती है वह बच्ची। यह घूंघट ही उस सबंध का प्रतीक हो गया। दोनों अलग-अलग है (सेपरेट)। प्रत्येक कार्य अलग-अलग करते हुए भी जुड गये है और जीवन मे परिवर्तन आ गया है। यह वैवाहिक सबंध भी अपने आप म एक थ्योरी (सिद्धान्त) रखता है। जीव के आचार-विचार एकमेव हो जाते है। और अगर भिन्न-भिन्न रहते हुए, आचार एक नही रहेगा, विचार एक से नहीं रहेंगे तो वह संबध विघटित हो जायेगा।

तो यह फलित हुआ कि संबंध दो के बिना नही चलता। और दोनो मे समता, एकमेकता होनी चाहिये।

'कर्मात्मनो अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंध.'।

अन्योन्यप्रदेश का अर्थ यह ही है कि एक-दूसरे मे घुल जाना, मिल जाना। जैसे नट और बोल्ट होते है। यदि एक को खेचो तो दूसरा भी साथ मे खिंच कर आ जाता है। यह है बंध की व्यवस्था।

जिस व्यक्ति का विवाह-संबध सस्कार के साथ हुआ है, वह जीवत्व के प्रति वास्तविक वात्सल्य हुआ है। जिनको सन्यास आश्रम मे प्रविष्ट होने की अभी सामर्थ्य नही है वे कुछ दिन गृहस्थ आश्रम में रहकर, उन विषयों के बारे मे कुछ परिचय प्राप्त कर ले, लेकिन उसके उपरान्त उसको भी पार करके आप निकल जाये तभी सार्थकता होगी। इन सासारिक वैवाहिक बंधनो के समान ही धार्मिक-क्षेत्र में बंध तत्त्व है।

'इसका कोई न कर्ता हर्ता अमिट अनादि है,
जीव और पुद्गल नाचें यामें कर्म उपाधि है।'

यह कर्म ऐसा है, ऐसा स्क्रू का काम कर रहा है कि ये दोनों जीव और पुद्गल (कर्म) अलग-अलग नहीं हो पाते। आचार्य कहते हैं एक ऐसा बंध हो जाता है, ऐसा संबंध हो जाता है कि अब एक निश्चित काल के लिये न तो पुद्गल पृथक् हो सकता है और न ही आत्मा पृथक् हो सकती है। दोनों के बीच एक क्षेत्रावगाह संबंध हो जाता है अर्थात् छूट नहीं सकते वह किसी अलौकिक रसायन के बिना। ऐसा नहीं है कि कर्म के प्रदेश अलग रहे आये और आत्मा के प्रदेश अलग रहे आये, अत: यह सिद्ध हो गया कि आत्मा मूर्त कर्म के साथ संबंध करता है।

अब आप पूछ सकते हो कि महाराज ! यदि आत्मा मूर्त के साथ संबंध करता है तो क्या वह भी मूर्त है ? क्योंकि अमूर्त के साथ तो मूर्त का संबंध हो नहीं सकता। हाँ भइया ! वर्तमान में संसारी जीव की आत्मा मूर्त है लेकिन चैतन्य मूर्त नहीं है यह भी ध्यान रखना। वह पुद्गल के समान मूर्त नहीं है स्पर्श, रूप, रस, गंध वाला। यह चैतन्यमूर्ति अर्थात् आँख के द्वारा दिखाने योग्य है, और यह जड़ की सोहबत संगत में आने से मूर्त बन गया है। और मूर्त हुए बिना मूर्त के साथ संबंध नहीं होगा। लौकिक दृष्टि से भी जैनाचार्यों ने कहा है कि देवों के साथ मनुष्यों का कोई व्यावहारिक काम संबंध नहीं हो सकेगा, क्योंकि वे देव वैक्रियिक शरीर वाले हैं।

इस मूर्त का मूर्त से संबंध समझाने के लिये कुछ लोग आकर कह देते हैं कि आत्मा तो अलग ही रह जाता है और कर्म, कर्म के साथ बंध जाता है, किन्तु ऐसा नहीं है।

> कर्म: कर्मणो अन्योन्य प्रदेशानुप्रवेशात्मको बंध अथवा
> आत्मात्मनो. अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंध:

ऐसा तो जैनाचार्यों ने लिखा नहीं है; इसलिये यह प्रश्न तो ज्यों-का-त्यों बना रहा, कि अमूर्त के साथ मूर्त का बंध कैसे हो ?

इसके लिये आचार्यों ने कहा है कि संसारी जीव के प्रति तो एकान्त नहीं है कि वह अमूर्त ही है।

> मूर्तोपि स्यात् संसारापेक्षा !

इससे यह फलित होता है कि संसारी जीव कथंचित् मूर्त होता है। संसार में संसारी प्राणी बिगड गया है, विकृत हो गया है इसलिये यह भी मूर्त के साथ मूर्तपने का अनुभव कर रहा है, किन्तु वह चैतन्यमूर्त है। अपनी आत्मा को वर्तमान मे मूर्त मानोगे तभी अमूर्त बनाने का प्रयास भी करोगे, यदि नही मानोगे तो नही। साथ-ही-साथ वर्तमान में आत्मा मूर्त है लेकिन इसमें अमूर्तपना आ सकता है–इस प्रकार का जब विश्वास करोगे तभी बध तत्त्व के यथार्थ श्रद्धानी आप कहलाओगे अन्यथा नही।

आत्मा में जो मूर्तपना आया है वह पुनः वापिस अमूर्त में ढल सकता है, क्योंकि वह सयोगजन्य है, स्वभावजन्य नहीं। इस प्रकार एक अलग ही क्वाजिटी का मूर्तपना इस जीव मे तैयार हुआ है। इसे उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है।

आप लोगों को यह विदित होगा कि बाजार में कई प्रकार की भस्मे आती है। लौह भस्म है, स्वर्ण भस्म है, मोती भस्म है ऐसी ही एक पारद भस्म (पारे की भस्म) आती है। पारे को जलाया जाता है बहुत घंटो तक। तब उसके उपरान्त वह पारा भस्म के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। और वह भस्म के रूप में ही काम आता है औषधि इत्यादि में। लेकिन पारा–यदि उसको खा लोगे तो वह बिल्कुल भी अंदर टिकने वाला नही है बिल्कुल आर-पार हो जायेगा बदूक की गोली के समान। शरीर सारा-का-सारा सड जायेगा, गल जायेगा, विकृत हो जायेगा। उस पारे की यह विशेषता होती है कि उसे ऐसे सामान्यत: कोई पकड नही सकता; क्योंकि वह शुद्ध तत्त्व है एकदम शुद्ध तत्त्व। और विशुद्ध तत्त्व हाथ से पकड मे नही आता, जैसे कि सिद्ध परमेष्ठी को आप पकड नही सकोगे। हाँ, अरहत परमेष्ठी पकड मे आ सकते है, क्योकि–

ससार दशायां स्थितत्वात् !

संसार दशा मे स्थित होने के कारण वह मूर्त है। अब इसका अर्थ यह हो गया कि वह पारा मूर्त होकर भी अभी पकड मे नही आ रहा है, किन्तु घंटो जलते रहने के बाद, वह जब, भस्म के रूप मे परिणत हो जाता है तो पकड़ में आने लगता है और डाक्टर लोग, वैद्य लोग उसे औषधि के रूप में प्रयोग में लाते है; लेकिन एक बात और ध्यान में रखना

कि इस पारे की भस्म की यह विशेषता है कि इसे खा लेने के उपरान्त यदि खटाई का प्रयोग हो गया तो पुनः वापिस पारा बन जाता है अर्थात् थोड़ा भी खटाई का योग मिल गया तो पुनः वापिस वह अपनी सहज स्थिति में आ जायेगा।

ठीक इसी प्रकार यह आत्मा रागद्वेष रूपी अग्नि के माध्यम से यद्यपि पारे की भस्म के समान हो गया है तथापि वह अपनी प्रारंभिक शुद्ध अवस्था मे भी पहुँच सकता है।

यहाँ यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान आत्मा को हम मूर्त नही मानेंगे, तो तीन काल में भी बंध तत्त्व की व्यवस्था संभव नही हो सकेगी और बंधापेक्षः मोह।

बंध की अपेक्षा से मुक्ति है तो मोक्ष तत्त्व भी आप सिद्ध नही कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में जबकि मोक्ष तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो रहा तो संसार भी नही है और अन्य द्रव्य भी नही है तो जीव तत्त्व भी नही है यह ध्यान रखना, इस तरह मे तो अभाव प्रमाण आ जायेगा जो संभव नही है, अतः वर्तमान मे अपने आत्मा को मूर्त मानना होगा और उसे अमूर्त बनाने के लिये निःशंक होकर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना होगा।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने भी कहा है—

अबद्ध अस्पृष्ट. आत्मा।

ऐसा कहा तो है लेकिन साथ-ही-साथ यह भी कहा है कि यह विवक्षा की बात है। इस प्रकार से यदि वह जीव अपनी भावना भाता है तो उस भावना के माध्यम से वह शुद्ध/अबद्ध बन सकता है। यदि हम बद्ध ही नही है—ऐसा मान लेंगे तो फिर भावनाओं की क्या आवश्यकता है? इसलिये आचार्यों ने कहा है कि अबद्ध बनने के लिये, मै अबद्ध हूँ। दृढ़ संकल्प हूँ—ऐसा यदि वह जीव भायेगा तो अबद्ध ही उसकी कल्पना मे आयेगा और वह अबद्ध बनने की ओर अग्रसर होगा अन्यथा नही। एक सूत्र और आता है मोक्षशास्त्र में—'विग्रहगतौ कर्मयोग।' और यह सूत्र कुन्द-कुन्द स्वामी के लिये भी इष्ट है, जयसेन स्वामी आदि सभी के लिये इष्ट है।

एक गति से जीव दूसरी गति तक जब चला जाता है तो विग्रहगति ही होती है। उस समय मात्र कर्म की ही सत्ता चलती है। उस समय

आत्मा का कोई भी योग (न मनोयोग, न वचनयोग और न काययोग) नहीं रहता। वहाँ तो मात्र कार्मण काययोग रहता है अर्थात् कर्म की ही सत्ता रहती है और कर्म आत्मा के साथ घनिष्ठ संबंध को प्राप्त हो चुका होता है। अब यदि कर्म मात्र कर्म से ही बंधते हैं आत्मा तो अलग ही रहता है। तो ध्यान रक्खो इस स्थिति में कर्म, कर्म को ही खेंचते चले जायेंगे और आत्मा यूं ही वही पर रह जायेगा, लेकिन ऐसा होता नहीं है। उस आत्मा को कर्म के साथ नरक आदि गतियों मे भी जाना पडता है और तीन समय तक अनाहारक भी रहता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि कर्म का आत्मा के साथ गठबंधन हुआ है क्षेत्रावगाह संबंध हुआ है इसमें कोई संदेह नही है।

अब इस मूर्त आत्मा को अमूर्त कैसे बनायें? यह प्रश्न उठेगा ही। क्या बात हो गयी हमारे पास आ जाओ इधर। वीतरागता के समीप आ जाओ। वीतरागरूपी खटाई का सयोग प्राप्त होते ही यह आत्मरूपी पारद भस्म अपने-आप ही सहज रूप मे आ जायेगी। कर्म वर्गणाएँ पृथक्-पथक् हो जायेगी।

चार प्रकार के बध होते है अर्थात् जो आगत कर्म है उनमे चार प्रकार के भेद पडते है। आत्मा के रागद्वेष, योग भोग के माध्यम मे प्रकृति और प्रदेश बध होता है तथा कषाय के माध्यम से स्थिति और अनुभाग बध होता है। कितने प्रदेश आ रहे है कार्मण वर्गणाओ के रूप मे परिणत हो करके, इसको कहते है प्रदेश बध और कोन-सा कर्म क्या काम करेगा अर्थात उसका नेचर (स्वभाव) ही प्रकृति बध है। इसके उपरान्त कषाय के माध्यम से काल मर्यादा और फलदान-शक्ति को लेकर क्रमश स्थिति और अनभाग बध होते है।

सर्वप्रथम आती है अनतानुबधी कषाय। जैसे कोई मेहमान को निमत्रण दे दे आप और जब वह आ जाये तो कह देते है कि यही रहो भइया! तुम्हे यहाँ से कोई निकालने वाला नही है। आराम से खाओ-पिओ बस! इसी प्रकार अनतानुबधी कषाय जब तीव्र होती है तो मिथ्यात्व को सत्तर कोडा-कोडी सागर तक के लिये आत्मा के साथ एक प्रकार का ऐशो-आराम मिल जाता है। इतनी अधिक स्थिति वाला कर्म-बंध होता है इस कषाय के द्वारा। वह सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर

समय तक के लिये निमंत्रण देने वाला, अनंतानुबंधी कषाय वाला जीव कौन-सा है? जीव तो चारों गतियों में है लेकिन ध्यान रखना, सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर काल को बांधने वाला मुख्यरूप से मनुष्य गति का जीव है। अनंतानुबंधीजन्य क्रोध, अनंतानुबंधीजन्य मान, अनतानुबंधीजन्य माया और अनंतानुबंधीजन्य लोभ—ये मनुष्य ही कर सकता है। और उसमें भी वह भोग-भूमि का मनुष्य नही बल्कि कर्म-भूमि का मनुष्य। तो स्थिति और अनुभाग जो बंध है इनके द्वारा कर्म एक निश्चित समय के लिये बंध जाते है और उसके उपरान्त अपना फल देते है। जो भी बंध हो रहा है वह जीव की एक ऐसी गलती है जिसके माध्यम से कर्म आकर चिपक जाते है। हमे बधना नही है बल्कि मुक्त होना है और उसके लिये एक ही रास्ता है, एक ही साधन है कि हम वीतरागता रूपी खटाई का प्रयोग करें, अनुपान करें और आत्मा जो मूर्त बना है, उसे अमूर्त बना लें।

प्रसगवश यह विषय यहाँ पर ले रहा हूँ कि अनंतानुबंधी से बचने के लिये क्या करें? इससे बचने का उत्तम उपाय यही है कि आप जिस किसी भी क्षेत्र में कार्य करते है वहाँ अपनी नीति और न्याय को न भूलें। भले ही वह वैश्य हो, क्षत्रिय हो, ब्राह्मण हो या नौकर-चाकर, सेठ-साहूकार जो भी हो, अपनी-अपनी नीति और न्याय को न भूलें। आचार्यों ने जो चारित्र के पथ प्रशस्त किये है उन पर श्रद्धा-सहित चलते रहने का तात्पर्य यही है कि हम कम-से-कम पापों से, कषायों से अपने को बचा सकें। जो मोक्षमार्ग पर आना चाहते है और कषायों का नाश करना चाहते है, उनके लिये नीति-न्याय को संभालने की बड़ी आवश्यकता है। सदाचार को पालन करने की बड़ी आवश्यकता है।

कर्म-सिद्धान्त पर जिसका विश्वास है वह व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण कोई भी कार्य नही करेगा। वह कार्य करने से पूर्व विचार अवश्य करेगा। मेरे इस कार्य को करने से अन्य किसी को कोई आघात तो नहीं पहुँच रहा है—ऐसा पूर्वापर वह अवश्य सोचेगा। कुल-परम्परा से जो चारित्र आता रहा है उसको हम पालते रहते है और इसे कहते हैं 'चारित्र-आर्य'; लेकिन हम चारित्र-आर्य होकर के भी, महावीर भगवान् के सच्चे उपासक होकर भी क्या इतने नियामक नही बन सकते हैं कि

अपना प्रत्येक कार्य नीति और न्याय के आधार पर ही करेंगे। मात्र प्रवचन सुन करके, तीर्थयात्रा करके या दान-पूजा इत्यादि करके क्या आप महावीर भगवान् को खुश करना चाहते हैं ? पैसे के बल पर उन्हें खरीदना चाहते है क्या ? इस प्रकार से तो आप कुछ नही कर सकोगे भइया !

एक व्यक्ति ने आकर कहा महाराज !
मैंने त्याग दिया है आलू,
तो मैंने भी कहा भइया !
बिल्कुल आप हो दयालु
फिर भी चोरी करना है चालू
बकरे के सामने बन बैठे हो भालू।

हमारे आचार्यों की त्याग के प्रति बहुत सूक्ष्म दृष्टि रही है। किस प्रकार का त्याग करना और कैसे करना—यह जानना भी अनिवार्य है। आलू का त्याग मात्र कर देने से कुछ नहीं होने वाला। सर्वप्रथम, जो भी व्यक्ति महावीर भगवान् के बताये हुए मार्ग पर आरूढ़ होना चाहते हैं क्षमता रखते है उन्हें सबसे पहले जीवो की रक्षा करनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति इस भव मे आत्मा के उत्थान की ओर अग्रसर हो सकता है इसलिये सर्वप्रथम तो प्रत्येक व्यक्ति के प्रति दयाभाव होना चाहिये। इसीलिए आचार्यों ने सर्वप्रथम संकल्पी हिंसा का त्याग कराया और उस संकल्पी हिंसा मे भी सबसे पहले मनुष्य की हत्या मत करो—ऐसा कहा है; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के पास यह क्षमता है कि वह मुनि बन सकता है और उस मुनि-अवस्था में, उस पवित्र आत्मा के माध्यम से, उस पवित्र आत्मा के दर्शन करने से असख्यात जीवों के अनंतकालीन पाप (मिथ्यात्व) कट सकते हैं। इतनी क्षमता है उस मुनिमुद्रा मे, उस वीतराग मुद्रा मे। वह मुनिमुद्रा इतनी शक्तिमान है कि बाह्य का दर्शन तो करा ही देती है साथ-ही-साथ अमूर्त आत्मतत्त्व के बारे में भी बिना बोले ही मात्र अपनी शान्त मुद्रा के माध्यम से तिर्यंचों तक को उपदेश देती है।

इसलिये सर्वप्रथम यह संकल्प लेना चाहिये कि अपने जीवन में मात्र अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिये किसी संज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य का घात नहीं करेंगे, उस पर अपने बल का प्रयोग नही करेंगे।' इस

अभयदान की क्षमता किसके पास है? कौन ऐसा व्यक्ति है जो अपने क्षणिक सुखों को तिलांजलि देकर अन्याय को छोड़ने के लिये तैयार होता है और दूसरे के जीवन को बचाने के लिये तैयार है। वही सच्चा महावीर भगवान् का उपासक है।

ध्यान रक्खो, वही दान, सच्चा दान कहलाता है जो नीति-न्याय से कमाने के उपरान्त कुछ बच जाने पर दिया जाता है। ऐसा नहीं कि दूसरे का गला दबाकर, उससे हड़प कर दान कर देना। गत वर्ष की बात है कुण्डलपुरजी में लोग बोलियाँ बोल रहे थे। एक ने पचास रुपये कहा तो दूसरे ने पचपन रुपये कह दिया। पचास रुपये देने वाला अब कह देता है कि मैं क्यों दूं अब तो पचपन रुपये वाले की बोली है, वही देगा। यह क्या है? भगवान् के सामने बैठ जाते हैं आप और ऐसा कह देते हैं और अपने को दानी घोषित करना चाहते हैं। यह मात्र लोभकषाय के वशीभूत होकर चोरी-जारी, अनाचार-अत्याचार करके कमाये हुए पैसे को यहाँ मंदिर में आकर मान-कषाय को पुष्ट करने के लिये दान दे देते हैं। यह दान नहीं है। अन्याय करने के उपरान्त कह देते हैं कि भगवान् कहाँ देख रहे हैं, नहीं देख रहे। तो ध्यान रक्खो भगवान् को सर्वव्यापी और विश्वलोचन कहा है। वह केवलज्ञान ऐसा है जो सभी को एक साथ देख लेता है।

तो सर्वप्रथम जो व्यापारी हैं वे संकल्प करें कि उनकी दुकान पर जो भी व्यक्ति आता है उसको नीति-न्याय के अनुसार हम माल देंगे, वस्तु देंगे। इसी प्रकार जो और दूसरे कार्य करते हैं वे अपना कार्य भी न्यायपूर्वक करें।

'मरहम पट्टी बाँध कर, व्रण का कर उपचार,
ऐसा यदि कर न सके, डंडा तो मत मार।'

ओ भइया! सम्यग्दर्शन की चर्चा करने वाले, कम-से-कम किसी के घावों के ऊपर मरहम-पट्टी नहीं लगाना चाहते या लगाने की शक्ति नहीं है तो उसे डंडा तो मत मारो। कम-से-कम आँख खोलकर तो चलो कि किसी के ऊपर पैर रखकर उसका घात तो मत करो, वह भी तो तुम्हारे समान जीव ही है। जो व्यक्ति प्रत्येक जीव तत्त्व के प्रति वात्सल्य नहीं रखता, वह भगवान् के प्रति वात्सल्य रखता होगा, यह

सिद्ध नहीं कर सकते आप। जो जीव हैं उनके ऊपर वही वात्सल्य, वही प्रेम, वही अनुकम्पा होनी चाहिये जो भगवान् के प्रति आपको होती है। यही जीव तत्त्व का सच्चा श्रद्धान है।

एक आस्तिक्य गुण कहा गया है जो सम्यग्दृष्टि के पास होता है। आस्तिक्य गुण का अर्थ यह नही है कि मात्र अपने अस्तित्व को ही स्वीकार करना। दुनिया में जितने पदार्थ है उनको यथावत् उसी रूप में स्वीकार करना—यह आस्तिक्य गुण है। जो दूसरो के भी जीवत्व को देखता है उसे ही आचार्यों ने आस्तिक कहा है अन्यथा वह नास्तिक है।

जो दूसरे में जीवत्व देखेगा वह कभी भी विषयो का लोलुपी बनकर उनके (जीवो के) घात का भाव नही लायेगा। गृहस्थाश्रम मे कम-से-कम यदि किसी को कुछ दे नही सकते तो उससे हड़पने का भाव भी नही लाना चाहिये। अतः राम बनो, रावण मत बनो। राम के पास भी महिला थी, पत्नी थी और रावण के पास तो राम से भी ज्यादा थीं क्योंकि वह प्रति-नारायण था। लेकिन भूमिगोचरी राम की पत्नी सीता पर उसने दृष्टिपात किया और उसका हरण भी किया। इतना ही नही वह राम-लक्ष्मण दोनों को मारने का सकल्प भी करता है। क्योंकि जब तक राम रहेगा, सीता रावण की भोग्या नही बन सकेगी। सीता यद्यपि राम के लिये भी भोग्या है और रावण के लिये भी है। लेकिन रावण की दृष्टि मे सीता मात्र भोग्या है और कुछ नही। जीवत्व का परीक्षण रावण ने नही किया। जीवत्व का परीक्षण तो राम ने किया। राम के लिये सीता मात्र भोग्या नही थी। वरन् अपने मार्ग पर चलते हुए राम ने उसे सहपाठी भी माना। इसीलिये उसकी सुरक्षा का भार उत्तरदायित्व राम के ऊपर था। अतः राम ने कह दिया कि मै रावण से सीता को वापिस लाऊँगा, भले ही लड़ना पड़े। यह संकल्पी हिंसा नही थी बल्कि विरोधी हिंसा थी। उन्होंने कहा कि मै रावण का विरोध करूँगा अन्यथा जैसे सीता चली गयी वैसे ही राजदरबार की सारी रानियाँ ही चली जायेंगी। वे सीता को वापिस ले आये और अग्नि-परीक्षा भी हुई। उसके उपरान्त सीता कह देती है कि मैं अब सीता नही रहूँगी, माताजी बनूँगी। और यह राम की विशेषता थी कि जिस समय सीता दीक्षा ले लेती हैं केश-लोंच कर लेती हैं उस समय राम कहते हैं—नमोस्तु! माताजी!

धन्य है आपका जीवन । मैं भी आ रहा हूँ आपके पथ पर। राम ने, दीक्षा लेते ही सीता को नमोस्तु किया और मातेश्वरी कहा। यह है सम्यग्दृष्टा की दृष्टि। और मिथ्यादृष्टि रावण की दृष्टि देखो कि मरते दम तक वह यही कहता रहा कि राम मैं तुम्हें मारूँगा और सीता को लूंगा। यही कारण है कि राम को पूजा जाता है रावण को नहीं।

अतः नीति-न्याय के अनुसार कमाई करो, अपना व्यवहार चलाओ। कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो सरकारी क्षेत्र मे नौकरी करता हो और गवर्नमेन्ट को यह विश्वास दिलाता हो कि मै कभी भी घूंस नहीं खाऊँगा। कोई भी गवर्नमेन्ट रहे वह कभी भी आपको भूखा नही मारती। आपकी संतान नाबालिग रह जाये, तो भी वह आपके मरने के उपरान्त भी उसका प्रबंध कर देती है। पीढी-दर-पीढी आपके परिवार की जिम्मेदारी सरकार लेती है आँख मूंद कर। वह स्वयं आप लोगों को धार्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त कर रही है। लेकिन आप लोग जो हैं उसके इस विश्वास का घात कर रहे हैं।

कई लोग आकर कहते हैं महाराज! हम नौकरी करते हैं बहुत बंधकर के रहना पडता है, छुट्टी नही मिलती है। अच्छा! और भइया! जब कोई सांसारिक/वैवाहिक कार्य आ जाता है तो डाक्टर से लिखा कर क्या भेज देते हो? मेडीकल सर्टिफिकेट! यह कौन-सा डाक्टर है जिसने एम बी. बी. एस किया है और वह निरोगी व्यक्ति को रोगी कह कर सर्टिफिकेट दे देता है। और उस व्यक्ति के माध्यम से वह डाक्टर भी घूंस खाता है, साथ ही वह व्यक्ति भी घूंस खाता है, गवर्नमेन्ट को धोखा दे कर। क्योंकि वेतन तो खाता है पर काम नही करता। ऐसे व्यक्ति को रोग न होते हुए भी रोग आ जाते हैं, यह साइकोलाजीकल इम्पेक्ट होता है। और उनका सारा-का-सारा वेतन दवा इत्यादि में समाप्त हो जाता है। मन में चिंता तो लग ही जाती है कि कहीं ऐसा न हो कि सरकार तो पता लग जाये उस झूठ का और मुझे डिसमिस (बरख्वास्त) कर दे।

तो भइया! सत्य तो बेचना नहीं चाहिये थोड़े से पैसों के लिये। सत्य तो सत्य है आत्मा का एक गुण है और आत्मा के संस्कार जन्म-जन्मान्तरों तक चले जाते हैं। सत्य को छोड़ कर मात्र इन्द्रिय-सुखों के

लिये असत्य का पोषण नही करना चाहिये। सत्य धर्म, अचौर्य धर्म, अहिंसा धर्म आदि का पालन करना चाहिये, जिनके माध्यम से आत्मा का बल जागृत होता है।

यह उन कषायों का घात करने की बात है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये भूमिका है। क्योंकि अनंतानुबधी कषाय का घात होने पर ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सभव है अन्यथा नही। सम्यग्दर्शन मात्र चर्चा का विषय नही है कुछ अर्चा भी करनी चाहिये। और अर्चा तो यही है कि हम दर्शन-आय बन जाये और भगवान् के प्रति सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति सच्चा श्रद्धान रखे और आगे बढ़कर उस अनतानु-बंधी को अपने मार्ग से हटा दें, मिथ्यात्व को भगा दें तभी सार्थकता होगी इस जीवन की।

अन्त मे आपसे इतना ही कहना चाहूँगा कि आत्मा वर्तमान में अमूर्त नही है किन्तु वीतरागता के माध्यम से वह अमूर्त बन सकती है। कर्म का सम्बन्ध आत्मा से अनादिकालीन है और मात्र कर्म, कर्म से ही नही बधा है बल्कि कर्म और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह संबंध हुआ है। उसका विघटन या तो सविपाक निर्जरा के माध्यम से हो सकता है अथवा अविपाक निर्जरा के माध्यम से। किंतु सविपाक निर्जरा के माध्यम से जो विघटन होगा उसमे आगे के लिये सतान (नये कर्म) की प्राप्ति होगी जैसे भोगभूमि का जोडा। भोगभूमि के जोड़े ऐसे हैं कि जीवन के अन्तिम समय तक भोग भोगते रहेंगे परतु संतान नही होगी, लेकिन जब आयु समाप्त होने लगेगी तो संतान छोड कर ही जायेंगे। उसी प्रकार सविपाक निर्जरा से एक कर्मबध तो समाप्त हो जाता है परंतु आगे के लिये नया कर्म-बंध भी होता रहता है। हमे अविपाकी निर्जरा करनी चाहिये।

तपसा निर्जरा च।

सम्यग्दर्शन की भूमिका भी यही है कि हम न्याय-नीति से चलें, कषायों को कम करें और सत्य का अनुसरण करने का प्रयास करें।

महावीर भगवान् की जय !

संवर

ओम् नमः सिद्धेभ्यः !

आज मोक्षमार्ग के व्याख्यान से पूर्व सामान्य रूप से जीव का, अजीव का, आस्रव और बंध का परिचय व्याख्यान के रूप में ही नहीं बल्कि अनादिकाल से मोह के फलस्वरूप अनन्तों बार प्राप्त हो चुका है। परिचित पदार्थ के बारे में ज्यादा ज्ञान आवश्यक नही है। हम अपरिचित के बारे में भी कुछ समझें तो सार्थकता है। संसार के निर्माता आस्रव और बंध है, तो मोक्ष के निर्माता संवर और निर्जरा है।

संवर का अर्थ बहुत सीधा-सादा है। जैसे कोई एक संकीर्ण रास्ता है और बहुत भारी भीड़ घुस रही हो, तो वहाँ क्या किया जाता है ? और कुछ ज्यादा परिचय देने की आवश्यकता नहीं है, आहार के समय चौके के द्वार पर जैसे आकर खडे हो जाते हैं दो स्वयंसेवक और सारी-की-सारी भीड को यूं ही हटा देते हैं। और कभी-कभी ये दो व्यक्ति उन बीस-तीस व्यक्तियों को रोकने में असमर्थ अपने को पाते है। बाहर की भीड़ घुस रही है और अंदर वाले उनका निषेध कर रहे है ऐसा भी होता है। कहा भी है–

आस्रव निरोधः संवरः।

आने के मार्ग को रोकना—यह संवर कहलाता है। इसके लिये शक्ति आवश्यक है, बिना शक्ति के काम नही हो सकता। नदी का प्रवाह बहता जाता है दोनों तटों के माध्यम से, किंतु उस प्रवाह को जिस स्थान पर रोका जाता है, वहां बडे-बड़े वैज्ञानिक, इंजीनियर आकर अपना माथा पटक देते है अर्थात् रात-दिन चिंतन करते है कि यदि यहाँ बाँध, बांध दिया जाये तो पानी टिकेगा, रुकेगा या नही ? पानी का यह जो बल लगेगा वह बांध झेल सकेगा कि नहीं ? बहुत तर्क-विचार आदि होते है और अनेक प्रकार की जो स्कीम हैं फेल हो जाती हैं, उसके उपरान्त बांध का निर्माण होता है, पानी को रोका जाता है, पानी का संनिरोध किया जाता है, बड़ी जिम्मेदारी हो जाती है। पानी बहता रहता है तो वहाँ कोई बोर्ड लिखा हुआ नहीं रहता कि 'डेन्जर' (खतरा) ऐसा, लेकिन जहाँ बाँध

बंध जाता है वहाँ अवश्य लिखा रहता है कि डेन्जर, (खतरा) है सावधानी बरते। पानी ज्यादा हो जाये तो उसको निकाल देते हैं नहीं तो खतरा है क्योंकि पानी की बाढ आ जाये तो इतनी जनहानि और आर्थिक हानि नहीं होती जितनी कि बाँध फूट जाये तब होती है।

अनादिकालीन राग-द्वेष और मोह के माध्यम से जो कर्मों का आस्रव रूपी प्रवाह अविरल रूपेण आ रहा है और जिसको हम अपने पुरुषार्थ के बल पर उपयोग रूपी बाँध के द्वारा वहाँ बाँध देते हैं तो वह कर्मों के आने का द्वार (जो कि आस्रव है) रुक जाता है। वह बड़ा बलशाली है, ध्यान रक्खो यहाँ न मन काम करेगा, न वचन काम करेगा और न ही काय काम करेगा, बल्कि वह उपयोग काम करेगा जो कि आत्मा का अनन्य गुण है। यों कहना चाहिये कि आत्म-रूपी शक्ति ही उस कर्मरूपी प्रवाह को रोक सकती है; लेकिन यह ध्यान रहे कि कर्म-रूपी प्रवाह में भी, एक बल, अपने-आप में है। और अनादिकाल से उसी का बल ज्यादा हुआ है इसलिये कमजोर उपयोग यहाँ उसी प्रकार ढह जाता है जिस प्रकार सीमेंट की जगह मिट्टी का प्रयोग करके जो बाँध, बाँध दिया जाता है और जो एक ही बार तेज पानी आते बह जाता है, टूट जाता है। यह तो मात्र पानी की बाढ हो गयी, कर्मों की भी ऐसी ही बाढ आती है।

आचार्य उमास्वामी ने कर्मों के आने के द्वार बताये हैं १०८ और १०८ प्रकार से ही वह आस्रव होता है—मन से, वचन से, काय से, कृत से, कारित से, अनुमोदन से, फिर समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में। इसके उपरान्त क्रोध, माया, मान और लोभ इन सब को परस्पर गुणित किया जाये तो वह सख्या १०८ आ जाती है। इसीलिये आप लोगों की माला (जाप) में भी १०८ मणियाँ शायद रखी गयी है और तीन मणियाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की है।

आत्म प्रदेशों पर आने वाले कर्म-प्रवाह को रोकने का भी एक उपक्रम चलता है, जो आत्मा को अवनति से उन्नति की ओर ले जाता है। ससार-मार्ग से मोक्षमार्ग की ओर ले जाता है और यह पतित से पावन बनने का उपक्रम सवर-तत्त्व द्वारा चलता है। इसी कारण निर्जरा तत्त्व से सवर तत्त्व अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है। और ज्यों ही संवर

तत्त्व आ गया, बाहर वाले को तो धक्का लग ही जाता है किन्तु अंदर वाले चिंतित अवश्य हो जाते हैं कि दरवाजा क्यों बंद कर रहे हैं। ऐसा न हो कि उनकी पिटाई के साथ-साथ हमारी भी पिटाई हो जाये। परसों की बात है कुछ लोग इच्छा रखते थे कि हम भी शास्त्र सुनेंगे तो कम-से-कम अपने को भी जगह मिलना चाहिये और वे जल-मंदिर में आकर बैठ गये परन्तु उन्हे यह नही मालूम था कि यहाँ आने ही नही देते बल्कि यहाँ से जाने भी तो नही देते और दो घंटे के लिये डेढ़ घटे के लिये संयम रहे कैसे? तो वे सोच रहे थे कि हे भगवान् जल्दी-जल्दी छूट जायें यहाँ से, तो अच्छा रहे। अत. जब आने का रास्ता बंद हो जाता है तो जो अदर है उनको भी परेशानी हो जाती है और आने वाले कर्म तो पहले ही रुक जाते हैं।

इसके बाद आती है निर्जरा। निर्जरा, सवर के बाद ही ठीक है। यह उपक्रम अच्छा है क्योंकि संवर हुए बिना जो निर्जरा है वह निर्जरा नही कहलाती। उस निर्जरा से कोई काम नही निकलता। संवर का अर्थ है एक प्रकार से लडना। दुनिया के साथ आप लोग अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र का प्रयोग करते है, लड़ते है। लेकिन कर्म जो आ रहे है उनके साथ लड़ने के लिये कौन-से उपक्रम, कौन-से साधन है? यह जानना अनिवार्य हो जाता है। पैसा! पैसा तो सवर के लिये बाधक है। पैसे से सवर नही हो सकेगा। फिर किसके माध्यम से होगा? कौन-सा शस्त्र है? कौन-सी शक्ति है? जो आते हुए कर्मों को रोक सके? तो इसलिये हमारे आचार्य उमास्वामी महाराज ने **मोक्षशास्त्र** ग्रंथ के नौवे अध्याय के प्रारम्भ मे ही कह दिया है—"आस्रव निरोध: सवर"।

निरोध करना रुध् धातु से बना है जिसका अर्थ रुकना है। किसको रोके? और कौन रोके? किससे आस्रव का निरोध हो? ऐसे कौन-से परिणाम है जिनके माध्यम से कर्मों के आने के द्वार को बंद किया जा सकता है, रोका जा सकता है। इसके लिये भी आचार्य उमास्वामी ने एक अलग ही पंक्ति कही है और एकाध शस्त्र नही बताया, बहुत सारे शस्त्र हैं-शस्त्र—उपशस्त्र हैं।

"आस्रव निरोध: संवर:!"

"स गुप्तिसमिति धर्मानुप्रेक्षापरीषहजय चारित्रैः"।

जो व्यक्ति मोक्षमार्ग पर चलता है, चलना चाहता है उसके लिये सर्वप्रथम संवर तत्त्व अपेक्षित है और संवर-तत्त्व को निष्पन्न करने के लिये जो भी समर्थ हैं, वे ये हैं—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा इत्यादि। ये माला है। इन्ही मणियो के माध्यम से सवर होगा और कोई भी शक्ति विश्व में नही है जो कर्मों का संवर कर सके। सर्वप्रथम आती है गुप्ति।

"ससारकारणात् आत्मन गोपन गुप्तिः।"

संसार के कारणो से आत्मा की जो सुरक्षा कर देती है उसका नाम है गुप्ति।

"गुप् गोपने सरक्षणे वा।"

गुप् धातु जो है वह सरक्षण के अर्थ मे आती है। वह ऐसा एक प्रकार का बल है जो सरक्षण करता है। जब गुप्ति के माध्यम से कर्मों का आना रुक जाता है तब योग ठीक-ठीक काम कर सकता है। कर्मों का आना बना रहे और हम अपने गुणों का विकास करना चाहे तो तीन काल मे नही हो सकता। तीन गुप्तियाँ होती है। गुप्ति के उपरान्त सवर का और कोई भी उत्तम साधन नही है। क्योकि सूत्र में गुप्ति करणकारक है और अन्त मे चारित्रैं कहा है इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि सवर के लिये सामान्य कोई भी कारण है तो यही साधन है, इसे अपनाना होगा।

गुप्ति की प्राप्ति समिति के माध्यम से होती है। इसीलिये समिति को उसके साथ जोड दिया और समिति को समीचीन बनाना चाहो तो दशलक्षण धर्म के बिना नही बन सकती और दशलक्षण धर्म को यदि हम सही-सही पालन करना चाहें, उत्तमता प्राप्त करना चाहे तो बारह भावनाओ का चितन करेंगे तभी दशलक्षण धर्म उत्तम बन सकता है। बारह भावनाओ का चितन कहाँ करे? एयरकंडीशण्ड मकान में बैठ कर या जहाँ पंखा चल रहा हो, कूलर चल रहा हो, हीटर लगे हों, रेडियो चल रहा हो और मुँह भी उसके साथ-साथ चल रहा हो वहाँ। खाते-खाते भी राजा राणा छत्रपति ....! हो सकता है क्या? ऐसा नही है। बारह भावनाओं का चितन करना चाहो तो उसके लिये योग्य

बाईस परीषह अपनाना होंगे। बिना बाईस परीषह सहे बारह भावनाओं का चिंतन उसी प्रकार है जैसे कोई भी तकिया लगा कर के बैठा है और छत्र भी लटक रहा है और वह कह रहा है--राजा राणा छत्र-पति···। और छत्र हिल जाये तो चौंक कर देखता है कि कौन चोर आ गया, छत्र चुराने के लिये। यह एक प्रकार से बारह भावनाओं का अविनय हो गया। एक नाटक हो गया। एक पाठ हो गया। ये तोता भी रट सकता है। किन्तु बारह भावनाओं को संवर का कारण माना है। इसलिये बारह भावनाएं कैसे पढ़ना चाहिये। कैसे चिंतन करना चाहिये ? तो यह बाईस परीषह सहन करते हुए करना चाहिये और बाईस परीषह कैसे सहन करें ? तो हमारे आचार्य कहते हैं बिना चारित्र लिये बाईस परीषह सहन करना सही कोटि में नहीं आयेगा। आप बाईस परीषह तो क्या बाईस सौ परीषह सह लेंगे। लेकिन चारित्र के उपरान्त ही परीषह, परीषह कहलाते हैं नहीं तो वह बाईस परीषह न होकर बाईस परिषद् हो जायेंगे। एक कोई भी गठन हो जायेगा। लेकिन ऐसा नही है। सही-सही रूप मं तो चारित्र के माध्यम से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।

गुप्ति है "गुप्त्यर्थं समिति·।"
समिति समीचीनार्थं धर्मः।

और धर्म को सुरक्षित रखने के लिये है अनुप्रेक्षा और अनुप्रेक्षा को समीचीन बनाने के लिये बाईस परीषह और बाईस परीषह, बिना चारित्र के धारण किये नही जा सकते अतः संवर तत्त्व जो ठीक-ठीक अपनाना चाहता है उसके लिये यह---

'सगुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजय चारित्रै'।

रूपी हार पहनना चाहिये।

"एतेषाम् गुप्त्यादीनां संवर क्रियायाः साधकतमत्वात् करण निर्देश."।

इन शब्दो के पीछे करण कारक सबंध क्यों रखा गया ? तो आचार्य कहते है---संवर के लिये और कोई भी साधकतम कारण नही है संसार में इसके अलावा।

महाराज! सभी का नाम तो आ गया यहाँ परन्तु सम्यग्दर्शन का नाम ही नहीं आया। इसमें सम्यग्दर्शन का नाम तो नहीं आया, परंतु गुप्ति क्या चीज है? समिति क्या चीज है? और इसे ही तो संवर के लिये साधकतम बता रहे है तो यह सम्यग्दर्शन के उपरान्त की ही बात है। आगे भी आचार्य उमास्वामी ने संवर-निर्जरा के लिये एक सूत्र रखा है—

"सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोप-
शान्त-मोहक्षपक-क्षीणमोह-जिना क्रमशोऽसंख्येयगुण-निर्जरा:।"

इसका अर्थ यह है कि ये सारी-की-सारी सम्यग्दर्शन के उपरान्त की बाते कर रहे है। तो इससे यह भी फलित हो गया कि ये सभी संवर के साधकतम कारण है।

लेकिन महाराज! कहीं-कही ऐसा भी तो आता है कि सयम तो आस्रव का कारण है और अगर आस्रव कराता है तो बध भी कराता होगा। बात तो आपकी कुछ अशो मे ठीक जंचती है भइया! लेकिन आप लोगो को यह भी सोचना चाहिये कि सयम, आस्रव का कारण है—ऐसा कह देगे, तो यह भी ध्यान रखे कि एक गुप्ति को छोड कर सूत्र में कोई भी ऐसा कारण नही है जो प्रवृत्ति के साथ न होता हो। समिति भी प्रवृत्तिकारक है। चारित्र भी प्रवृत्तिकारक है और बारह भावनाओ का चिंतन, दशलक्षण धर्म का अनुपालन और बाईस परीषह-जय, सारे के सारे प्रवृत्तिकारक ही तो है। और दशलक्षण धर्म को आप आस्रव की कोटि मे रख नही सकते क्योंकि उसी के माध्यम से तो कुछ धर्म का अनुष्ठान होता है और वही निकल जायें तो ३६५ दिन यूं ही निकल जायेंगे अधर्म मे। यह ध्यान रखे कि जब प्रवृत्ति होती है उस समय के लिये ये सारे के सारे कारण है और जब प्रवृत्ति छूट जाती है उस समय सवर का एकमात्र कारण गुप्ति रह जाता है। इसलिये इनके साथ आस्रव होते हुए भी प्रधानतया ये संवर के ही कारण है। और कोई इसे ऐसा भी न समझे कि महाव्रत से, चारित्र से, परीषह-जय से, एक मात्र बंध ही होता है। बंध भी होता है यह मंजूर करता हूँ तो फिर गुप्ति के साथ भी बध होता है यह मंजूर करना होगा। क्या बात हो गयी। आस्रव होता है तो बध होता है क्योंकि

वह योग का कारण है और योग जब तक रहेगा तब तक यह भी चलता रहेगा। इसीलिये प्रारंभिक दशा प्रमत्त दशा को छुड़ाने के लिये और आस्रव तत्त्व से संवर तत्त्व की ओर आकृष्ट करने के लिये उमास्वामी महाराज ने इस सूत्र का निर्माण किया है और यह समयोचित ही है। एकमात्र उसके आस्रव संबंधी या बंध संबंधी कार्य का ही कथन करके हम उसको गौण नहीं कर सकते।

अनेक प्रकार की क्रियाओं में सम्यग्दर्शन की भूमिका का निर्वाह भी होता जाता है तो चारित्र तो बहुत लम्बी-चौड़ी बात है और एक महत्वपूर्ण कारण है उसको एक मात्र आस्रव की ही कोटि में रखें तो यूं कहना चाहिये कि उसका महत्त्व अभी पूर्ण समझ में नहीं आया। क्योंकि अनेक कारण होते हैं और उन एक-एक कारण के अनेक कार्य होते हैं, देखने में आते हैं—यह राजवार्तिककार ने सिद्ध किया है। तप है चारित्र है, यद्यपि इनके साथ आस्रव होता है लेकिन ये मुख्य रूप से आस्रव के कारण नहीं है बल्कि संवर के कारण हैं। यह कैसे? एक कारण अनेक कार्य कर सकता है क्या? तो उन्होंने उदाहरण दे दिया तप के लिये, कि देखो एक तप के माध्यम से निर्जरा मात्र नहीं होती, संवर भी होना चाहिये क्योंकि "तपसा निर्जरा च"। और 'च' का अर्थ यहां संवर होना चाहिये। उन्होंने यह भी कह दिया कि संवर भी होता है और उसके साथ-साथ आस्रव भी होता है, यदि तप में कमी है तो। और आस्रव होता है तो बंध भी होता है। अब आप यह पूछ सकते हैं कि महाराज! एक ही काल में आस्रव भी बन सकता है क्या? बंध भी करा सकता है क्या? और संवर भी करा सकता है क्या? तो कहते हैं कि क्यों नहीं करा सकता? अवश्य करा सकता है।

"यथा वह्नेः" जिस प्रकार अग्नि अनेक प्रकार के कार्य करने में सक्षम है उसी प्रकार यह भी है। वह अग्नि, धान्य को यदि आप पकाना चाहें तो पका देगी और चूल्हे में सिगड़ी में उसे डाल दें तो वह कोयले को जला भी देगी और जलते हुये कोयले के ऊपर बुगनी (गंजी) में रखी हुई धान को वह पका भी रही है और साथ ही साथ वह प्रकाश भी प्रदान कर रही है और हां बैठे-बैठे यदि सर्दी लग रही हो तो सर्दी भी दूर कर देती है जिसको सेंक कहते हैं, उसे जलाना नहीं कहते। तो इस प्रकार

अनेक कार्य हो सकते हैं एक मात्र अग्नि के माध्यम से। उसी प्रकार तप भी, संयम भी, चारित्र भी ऐसे ही हैं कि एक साथ सब कुछ कर सकते हैं। अभ्युदय का लाभ भी मिलता है और मोक्ष का लाभ अर्थात् संवर का लाभ भी उसे मिलता है और यूं कहना चाहिये कि ये सारे के सारे संवर की कोटि में ही रखे गये हैं, जिनके माध्यम से आत्मा पतित से पावन बनती है। आस्रव उसे पतित बनाता है, बंध से वह जकड़ा हुआ है और अब इस संवर तत्त्व के माध्यम से वह कुछ बाहर आने का प्रयास कर रहा है अर्थात् बंधन टूटेगा। बंधन टूटने का अर्थ है जो आने का मार्ग है वह रुक जायेगा और अपने आप अंदर के बंधन शिथिलीभूत होंगे। उनमे शिथिलता अवश्य आयेगी और समय आने पर तो उनका नाश अवश्यंभावी है।

इसलिये वह सयम, वह गुप्ति, वह समिति, वह दशलक्षण धर्म, वे अनुप्रेक्षाएं, ये सारे के सारे सवर की कोटि मे आ जाते है क्योंकि सवर के साधकतम ये ही है। अत जो मोक्षमार्ग पर आरूढ होना चाहते है उन्हे उत्साह के साथ और रुचिपूर्वक इन्हे अपनाना चाहिये। आप लोगो के सामने हार लाकर के रख दिया जाये और भले ही वह फूलो का हार क्यो न हो, झट से खड़े हो जाते है और कहते है मेरे गले मे डाल दो। मै आपसे पूछना चाहता हूँ कि उमास्वामी महाराज ने इस चारित्ररूपी हार को बना कर रख रक्खा है। इस हार को पहनने के लिये कौन-कौन तैयार है। मै तो सभाले ही हूं, पहने ही हूँ। मुझे क्या? पर मै यह सोच रहा हूँ कि आपका भी गला सज जाये इस हार के माध्यम से। कुरूप दीख रहे हो, रूपो बनना चाहते हो तो इस हार को सजाओ। मिट्टी के हार के माध्यम से आप अपना गला सजा रहे हो, अपनी अंगुलियो को सजा रहे हो मुद्रिका डाल कर। समझ मे नही आता यह किसका शृगार हो रहा है। संवर-तत्त्व, आत्मा का शृगार करने के लिये हमे पाठ सिखाता है और यह सब मुद्रिका आदि तो आस्रव और बध का उपक्रम है बधुओ! उसमे क्यो रच-पच रहे हो। आप स्वय सोचो, विचार करो किस तत्त्व के शृगार मे आज आप लगे हुए है। यूँ कहना चाहिये जड तत्त्व के माध्यम से जड की शोभा, जड कर रहा है। यहाँ जड—यह शब्द तीन बार आया है। जड तत्त्व के माध्यम से अर्थात् जितने भी ये आभरण-आभूषण

वगैरह हैं ये सारे के सारे जड हैं, पुद्गल हैं। इनके माध्यम से जड़ की शोभा अर्थात् शरीर की शोभा कर रहे हैं और इस जड की शोभा के लिये कौन लगे हैं? जड़। जड का अर्थ यहाँ पुद्गल नही लेना। हाँ! जड़ के प्रति जो प्रेम-मोह-भाव, राग-भाव रखने वाला जड अर्थात् अज्ञानी है, वह लेना। आप ज्ञानी बनना चाहोगे या अज्ञानी बनना, बताओ भइया! वैसे बनना क्या है। अज्ञानी तो अनादिकाल से हैं और इसी अज्ञान दशा में तो अनन्तकाल खोया है ध्यान रखो।

आप कर्म के उदय की ओर मत देखो। कर्म का उदय हो रहा है, मैं क्या करूँ? महाराज! कैसे संयम करूँ? कैसे गुप्ति पालन करूँ? कैसे समिति का अनुपालन करूँ? कैसे बाईस परीषह सहूँ? तो बंधुओ! यह तो एकमात्र हमारे उपयोग की कमी होगी। सम्यग्दृष्टि की आत्मा अनन्त शक्तिमान है। भले ही उसमें शारीरिक शक्ति नही हो तो भी एक बार झटका तो लग ही जाता है उन कर्मों को। और उस झटके के माध्यम से बहुत-सा काम हो जाता है। यह नही समझना चाहिये कि उदय के माध्यम से ही सब कुछ काम हो रहा है। आस्रव और बंध जो हो रहे है वह हमारी ही कमजोरी है। उस ओर हम देखते हैं तो पुनः-पुन नया आस्रव और बंध होता चला जाता है और यदि नही देखेंगे तथा हम अपने संवर रूपी पुरुषार्थ में लगे रहेंगे तो कर्म उदय में आकर यूँ ही चला जायेगा। क्योकि द्रव्य भी अनुकूल होना चाहिये, तभी आस्रव और बंध होता है और जिस समय आत्म द्रव्य (पुरुष) आत्म द्रव्य की ओर दृष्टिपात कर रहा है उस समय उदयागत कर्म किसी भी प्रकार से अपना प्रभाव नही डाल सकता। वह आकर यूँ ही चला जायेगा। क्योकि मंद कषाय के माध्यम से यही तो लाभ होता है कि जिस समय वह अपने में लीन हो जाता है तो कषायों का पूर्णतः अभाव तो नही होता। किंतु कषाय इतनी कमजोर हो जाती है कि अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। अनुभाग बंध और स्थिति बंध इसी कषाय पर आधारित होते है। एक मिथ्यादृष्टि भी अपने आस्रव कार्य को अपनी विशुद्धि के बल पर कमजोर कर सकता है। आचार्यों ने कहा है कि मिथ्यादृष्टि कोई अभव्य भी हो तो वह सत्तर कोड़ा-कोडी सागर की उत्कृष्ट स्थिति को भी अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागर कर सकता है। अभी उसके मिथ्यात्व का अभाव नहीं हुआ है और वह अभव्य भी है।

सम्यग्दर्शन उसे प्राप्त नहीं होने वाला है। किन्तु चार लब्धियाँ जब प्राप्त होती हैं तो प्रायोग्य-लब्धि के माध्यम से वह मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपने सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति का जो कर्म था, दर्शन मोहनीय, उसको अपनी विशुद्धि के बल पर, अपने पुरुषार्थ के बल पर अंत:कोड़ा-कोड़ी सागर कर देता है। इसका अर्थ यह हो गया कि सत्तर जहाँ सेना थी अब मात्र .७५ शेष रह जाती है अर्थात् सत्तर में से उन्हत्तर को निकाल दो और एक जो शेष रहा, उस एक के भी हाथ-पैर टूट जायें तो उसकी क्या स्थिति हो जायेगी? इतना कमजोर, वह अभव्य भी अपने कर्मों को, अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल पर कर सकता है। वह अभव्य, जिन-वाणी के श्रवण से और अपनी आत्मशुद्धि के माध्यम से कषाय को कमजोर बनाकर यह कार्य कर सकता है तो मैं सोचता हूं जो भव्य है और निकट भव्य है, आप जैसे आसन्न भव्य हैं तो कहना चाहिये ऐसे ही फूंक करके उड़ा सकते हैं उन कर्मों को। लेकिन आप लोगों को कमजोरी कहाँ पर हो रही है समझ में नहीं आ रहा है? कंठ में कमजोरी हो तो चली जायेगी भइया! फूंकने की बात नहीं है वह तो उदाहरण दे दिया है।

एक बार दृष्टिपात करो, अपनी आत्मा की ओर, उस अनन्त शक्ति की ओर। और अंतर्मुहूर्त के अंदर सारे-के-सारे कर्म [अंत:कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति वाले हो जायेंगे, दर्शन मोहनीय और अनंतानुबंधी यूं ही छूमंतर हो जायेंगे, चले जायेंगे। तो कहना चाहिये कि इस आत्म-पुरुषार्थ के बल पर वह अनन्तकालीन जो समुद्र है, पाप का, उस पाप के समुद्र को, एक सेकण्ड के अंदर आप भी सुखा सकते हैं और शेष रह सकता है एक चुल्लू भर पानी। इतना पुरुषार्थ, एकमात्र सम्यग्दर्शन के माध्यम से हो जाता है।

कहाँ अटके हो? कहाँ लटके हो? कुछ समझ में नहीं आ रहा है। एक बार भी उस आत्म-तत्त्व की बात अगर चलती है तो आसन्न भव्य को ऐसा लगता है कि कब, कैसे इन कर्मों की कमर तोड़ दूं और वह शक्ति भले ही हो न शारीरिक, लेकिन आत्मिक बल के साथ तो वह कूद ही जायेगा कर्मों का नाश करने के लिये।

जब एक बार जंगल गये हम, तो गाय और गाय के बछड़े वहाँ चर

रहे हैं यह तो देखा और गाय तो कूदती नही है लेकिन बछड़े का हिसाब-किताब कुछ अलग ही हुआ। मैंने देखा इतनी तेजी के साथ दौड़ता है वह बछड़ा और करीब दस बार जाकर पुनः वापिस आ जाता है उस मां के पास। फिर बाद में ऐसा चुपचाप बैठ जाता है जैसे पसीना आ गया हो, रुक जाता है वह। फिर थोडी देर में और शक्ति आ जाती है तो पुन वापिस कूदने लग जाता है। फुटबाल भी उसके सामने कुछ नही है ऐसा करेन्ट आ जाता है उसमें कि बस! फिर वह रुकता नही है। उसी प्रकार आत्मा की बात सुनते ही ऐसा करेन्ट दौडना चाहिये कि बस! रुके नही। शारीरिक शक्ति सारी की सारी अपने आप ही उद्वेलित होकर उत्तेजित होकर काम करने लग जाये। यह एक मात्र आत्मशक्ति की स्मृति या चिंतन का ही फल है जो आपको समझना चाहिये। और इन सवर मार्गों को भूलना नही चाहिये, साथ ही साथ कर्मों के उदय के ऊपर ही आधारित होकर नही बैठना चाहिये।

यह ध्यान रक्खो कि सवर और निर्जरा—ये दोनों तत्त्व आत्म पुरुषार्थ के लिये हैं। जो भी कर्म उदय में आ रहे है उनका प्रभाव उपयोग के ऊपर नही पडे, इस प्रकार आत्म पुरुषार्थ करना ही तो सवर है और अगर इन्ही का अभाव हो गया तो फिर आप क्या करेंगे ? एक बार की बात है कि एक राजा ने अपने सेनापति को या मल्ल को कहा कि चले जाओ। कूद पडो रणागण मे और बैरी (शत्रु) आया है भगाओ उसको। और विजयी बनकर आओ। वह मल्ल कहता है एक घटे के बाद जाऊँगा। अरे! एक घंटे के बाद तो वह स्वयं चला ही जायेगा ?—चला जायेगा, तो ठीक ही है मै वैसे ही विजयी बन जाऊँगा। अरे! तेरा काम तो इसलिये है कि जब रणांगण मे बैरी प्रतिपक्षी आकर के कूद जाता है उस समय तुझे अपनी शक्ति दिखाना चाहिये। मोहनीय कर्म के उदय का जब अभाव हो जायेगा तब उठेंगे क्या ? अब क्या करोगे जाग करके ? उस शत्रु को, उस आस्रव को अब संवर की आवश्यकता क्या है ? संवर अर्थात् रोकना है। ऐसा नही कि दूसरा कोई भाग जाये और उस स्थान को हम अपने अंदर में ले लें। यहाँ पर संवर का अर्थ यही है कि दूसरे को भगा कर वहाँ अपना विजयी झडा लगा देना, उन कर्मों पर विजय प्राप्त कर लेना।

एक विशेष बात और कहता हूं कि आज के जो कोई भी त्यागी हैं, तपस्वी हैं, मोक्षमार्गी है, सम्यग्दृष्टि हैं उन्हे किसी और के साथ भी लड़ना पड़ता है और वह है पंचमकाल। पचमकाल का अर्थ क्या है? पंचमगति के लिये काल अर्थात् पंचमगति का अभाव। इसे कलि-काल भी कहा गया है ध्यान रक्खो। कलि का अर्थ संस्कृत मे झगड़ा है। काल के साथ भी झगडा करना पड रहा है। जिस प्रकार दीपक, अंधकार से लड़ता रहता है और कहता है कि जब तक मैं हूँ तव तक तू आ ही नहीं सकता, तेरा प्रभाव पड़ नही सकता। इसी प्रकार पचमकाल है; हम क्या करें ऐसा नही कहेगे बल्कि कहेगे कि मेरे पास संवर तत्त्व है तो तू (पंचमकाल) आ नही सकता अर्थात् तेरा प्रभाव मुझ पर पड नही सकता। इस प्रकार लडते रहेंगे, पंचमकाल के अतिम समय तक, सम्यग्-दृष्टि से लेकर भावलिंगी सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज भी। और श्रावक-श्राविका, मुनि-आर्यिका यह चतुर्विध भी पंचमकाल के अतिम समय तक मिलने वाला है, यह भी ध्यान रक्खो।

वर्तमान समय में कम-से-कम चार सौ मुनि-आर्यिका आदि तो होना ही चाहिये। होने तो चाहिये आप लोग भी कह देंगे। परतु कैसे होंगे? कोई पुतला बनाकर तो रख नही देगा। पुद्गल-पुतले का प्रभाव भी नही पडने वाला है और पुतले के पास संवर तत्त्व भी नही है। संवर तत्त्व तो एक चैतन्य तत्त्व है। **जो आत्मा के परिणाम है, आत्मा की परिधियाँ हैं और कर्मों को रोकने वाली एक चैतन्य धारा है उसको कहते हैं संवर। वह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र द्वारा उद्भूत होती है आत्मा में। उसको प्राप्त कैसे करें? यह विचार करना चाहिये और जल्दी-जल्दी इस पथ पर आना चाहिये।** और इस चार सौ को सख्या को अक्षुण्ण बनाना चाहिये।

कर्म का उदय है हम क्या करें? यह रट आप छोड दें और आत्म-पुरुषार्थ जागृत करें; क्योंकि आत्मा के पास जब बंधने की शक्ति है तो उस बंध को मिटाने, तोडने की भी शक्ति है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को निमन्त्रण दिया है, उसी प्रकार उस व्यक्ति को फटकार कर घर से बाहर निकाला भी जा सकता है।

यदि आप अपनी शक्ति को पूर्ण रूप से काम में लाते हैं तो मैंने निमंत्रण दे ही दिया है और अब आ ही गया है तो ठीक है—ऐसा सोचेंगे तो छुटकारा मिलने वाला नहीं है।

एक व्यक्ति बहुत ही सदाचारी था, विनयी था और दयालु था। उसे देख कर एक दूसरा व्यक्ति चला जाता है उसके यहाँ और कह देता है कि मै परेशान होकर आ रहा हूँ मुझे बहुत प्यास लग रही है और भूख भी थोडी-थोडी लग रही है परंतु थोड़ी प्यास बुझ जाये तो भी अच्छा है। वह सदाचारी व्यक्ति कहता है—ऐसी चिंता क्यों करते हो। ठडा पानी पी लो भइया ! पी लिया उसने गिलास भर ठंडा पानी, फिर इसके उपरान्त थोड़ी भूख शान्त हो जाये—ऐसा वह कह देता है। हाँ, हाँ, भइया ! अभी-अभी रसोई तैयार हो रही है तब तक थोड़ी काजू-किशमिश तो खालो फिर बाद मे भोजन कर लेना। बस ! इसके उपरान्त पलग बिछी है तो सो जाता है वह व्यक्ति। सुबह हो जाती है तो अब वह सदाचारी व्यक्ति सोचता है कि यह क्या बात है ? यह कौन है ? कहाँ का है ? कुछ पता भी नही और आकर बैठ गया है पानी पीकर, भोजन करके, यही सो भी गया है और जाने का नाम ही नही लेता है। अब वह कह देता है कि भइया जी ! मे एक काम के लिये बाहर जा रहा हूँ इसलिये आप भी ! ··इसलिये क्या ? आपने तो बता ही दिया है कि आपका ही घर है, आपका ही पलग है और आपकी ही सामग्री है सब। आप चले जाओ काम के लिये मै यही बैठा हूँ—ऐसा वह आगंतुक व्यक्ति भी कह देता है। अब वह सदाचारी व्यक्ति सोचता है कि क्या करूँ ? खैर, कोई बात नही एकदम से इतना फटकारना भी तो नही चाहिये। और वह ट्रेजरी इत्यादि को बन्द कर देता है। फिर भी वह जाने को तैयार नही होता तो बाद मे स्पष्ट कह देता है कि आप जाते हो यहाँ से या नही ? अब तो उसे जाना ही पड़ता है।

तो इसी प्रकार कर्मों को आपने बुलाया है यह ग़लती हो गई है आप से, लेकिन अब कम-से-कम इतना ज्ञान हो गया है कि जिससे हमने ग़लती खाई है उसको निकाल भी सकते है हम। इन आने वालों को रोकने की शक्ति है इस संवर तत्त्व में और जो आये है उनको भी

एक आँख दिखा दो अब; ताकि नींद खुल जाये उनकी भी। संयम, तप आदि को अपनाते ही वे साथ आने वाले भी अपने-आप गड़बड़ा कर चले जायेंगे। कर्म के ऊपर ही सब निर्धारित नही है यह ध्यान रखो। कर्म-कर्म करते रहोगे तो छुटकारा नही मिलने वाला। संवर तत्त्व पहिले अपनाओ, भइया! **कर्म का उदय बंध के लिये कारण नहीं है, कर्म का उदय आस्रव के लिये कारण नहीं है; किन्तु उसके साथ हमारा सो जाना ही आस्रव और बंध के लिये कारण है।**

मैंने किया विगत में कुछ पुण्य-पाप
जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तबलौं जबलौं न राग
चिंता नही उदय की बन वीतराग ॥

उदय को ही देखते बैठ जायेंगे तो निस्तार नही होने वाला। गलती तो यह कर ली है कि विगत जीवन में विगत काल में हमने राग-द्वेष और मोह के वशीभूत होकर कर्मों का आस्रव किया है, कर्मों को बांधा भी है। उसका उदय तो आयेगा ही इसमें कोई संदेह नही है। वह किसी को छोड़ने वाला नही है। वह उदय में आयेगा और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लेकर फल भी देगा, परंतु यह ध्यान रखो कि आगे के लिये भी वह अपनी संतान (नये कर्म) छोडकर चला जाये यह नियम नही है। नये कर्मों के लिये तो चाहिये राग-द्वेष और योग की प्रणाली। मान लो, आस्रव होगा क्योंकि योग है हमारे पास तो भी कोई बात नही। आस्रव से भी मत डरो; क्योंकि कर्म का आस्रव हो भी जायेगा और उसके लिये यदि कषाय नही है तो वह कर्म चिपकेंगे नही, यूँ ही चले जायेंगे। वर्षा हो रही है उससे भीति या डर नही है क्योंकि वर्षाकाल मे तो वर्षा होगी ही। आप अपने मकान को सुरक्षित रखना चाहो तो कही कोई ट्रेजरी मे, लॉकर में ले जा कर तो उसको रखोगे नही। वर्षा मे भी वह मकान रहेगा, अब उसकी सुरक्षा कैसे हो? उसकी सुरक्षा तो यही है कि वर्षा का पानी उसमें टिके नही। वर्षा होती रहे परंतु एक बूंद पड़ी और साफ। दूसरी बूंद आने से पहले वह पहली साफ हो जाये, निकल जाये। और इस प्रकार सारा-का-सारा पानी गिरकर भी निकल जायेगा और मकान को कुछ नही होगा। इसी प्रकार योग की प्रणाली के माध्यम

से कर्म आ रहे हैं। कोई बात नहीं है हम जितना-जितना कषाय को कमज़ोर बनाते जायेंगे, क्षीण करते जायेंगे उतना-उतना संसार कम होता चला जायेगा। संसार की स्थिति पड़ने में ये कषाय ही सहायक हैं अर्थात् इनके बिना स्थिति नहीं पड़ेगी और स्थिति नही पड़ेगी तो अनुभाग बंध भी नहीं होगा अर्थात् फल भी नहीं भोगना होगा।

'यूं आया और यूं ही चला गया जैसे
वर्षा प्रवाह बस! बहता चला गया।'

अतः जो कर्म बांधे है वह उदय मे आयेंगे लेकिन नवीन कर्म को बंधेगे, वे कर्माधीन नही है, वे है आत्मायत्त अर्थात् आत्मा के निर्धारित। कषाय से बंध जो होता है वह बिना उदय के नहीं होता वह उदय में तो आयेगा ही, लेकिन उसके साथ-साथ यदि आत्मा का पुरुषार्थ है, यदि वह आत्मा जागृत है तो किसी भी प्रकार से उदय अपने को धक्का नही देगा।

'होगा न बध तबलौ जबलौ न राग'

यहां साम्परायिक आस्रव और बंध की बात है इसलिये पाप का बध तब तक नही होगा जब तक राग नहीं होगा, द्वेष नही होगा। ये हमारे उपयोग की कमजोरियाँ है। हमारा उपयोग जितना चंचल होता चला जायेगा उतना ही वह ज्ञेयभूत पदार्थों को भी हेय और उपादेय के रूप में बताते हुए, राग-द्वेष करता चला जायेगा। इसलिये यदि हम संयम के साथ, संवर के साथ उस उपयोग को जोड देंगे तो वह तीन काल मे बंध के लिये कारण नही होगा; इसलिये यहाँ पर आचार्यों ने कहा कि संयम के माध्यम से सवर होता है आस्रव नही। आस्रव यदि होता भी है तो वह शुभास्रव होता है जो अपने लिये ऐसा बाधक नही है जैसा कि अशुभ बाधक है। अशुभ हमारे रास्ते को रोक देता है किन्तु शुभ बाधक न बन कर एक अलग ही कार्य करता है और जब अशुभ को मिटा देंगे तो अपने-आप ही आपको मालूम पड़ जायेगा कि शुभ एक औषधि का काम कर रहा है।

यदि महाव्रत-रूप चारित्र आस्रव के लिये कारण है तो चौदहवें गुणस्थान में भी आस्रव होना चाहिये क्योंकि महाव्रत तो वहाँ है। महाव्रत का तो त्याग नहीं किया है उन्होंने, क्योंकि वे ध्यान में बैठे है

और ध्यान महाव्रत के बिना तो होता नही। वे ध्यान में बैठे हैं, महाव्रत भी हैं तो आस्रव होना चाहिये; लेकिन आस्रव नही हो रहा है। इसका अर्थ यह हो गया कि आस्रव अलग हो रहा है। महाव्रत के माध्यम से आस्रव नहीं हो रहा है। वह महाव्रत तो संवर का कारण है और मुख्यरूपेण—

'क्रियाया साधकतमत्वात् करण निर्देश:।'

पूज्यपाद आचार्य ने ये पक्तियाँ लिखकर यहाँ इस शंका का समाधान बहुत अच्छी तरह से किया है।

सवर—इस कार्य को करने वाला यदि कोई कारण है, साधक है तो वह है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र। चारित्र के बिना ये सारे के सारे आ नही सकते, तो सर्वप्रथम पच-महाव्रतो का आलम्बन लेना होता है फिर बाद मे यह सारी-की-सारी बाते परीषहजय आदि आते है। आपको परीषहजय का कोई मूल्य नही है, किन्तु ध्यान रखना महाव्रत अपनाने के बाद ही महाव्रत काम करता है। बारह भावनाओ का चितन भी महाव्रत धारण करने के उपरान्त काम करता है; क्योकि वास्तविक बारह भावनाओं का चितन निर्जरा और सवर के लिये कारण है इसलिये उसके माध्यम से आत्मा की विशुद्धि बढ़ती चली जाती है। **आत्मा की विशुद्धि जितनी-जितनी बढ़ेगी उतना-उतना संवर तत्त्व भी बढ़ता-बढ़ता चला जायेगा और उसके माध्यम से एक दिन यह संसारी प्राणी कर्मों की सारी-की-सारी निर्जरा करके मुक्त भी हो सकता है।**

अत' उदय से डरना नहीं है, क्योंकि अनादिकाल से जो डर उत्पन्न हुआ है वह कर्मों के उदय में तो हुआ है, लेकिन उदय के कारण हुआ हो ऐसा नही है। हम थोड़ा मन को, अपने उपयोग को, कर्म से, कर्म के फल से इस सारे-के-सारे वातावरण से, मोड ले और आज तक जिसको नही देखा, जिसको नही जाना उसकी ओर मुड जाये, उस ओर अपने उपयोग को लगा ले तो ध्यान रखना ये सारे-के-सारे कर्म ऐसे ही बैठे रह जायेंगे, इनका कुछ भी प्रभाव उपयोग के ऊपर नही पड़ने वाला।

यह ध्यान रक्खो, जब हम बाहर झांकते हैं उसी समय बाहर की बाधाएँ सताती हैं और जब झांकने की इच्छा होती है तब झांकते हैं, कर्म के उदय से नहीं झांकते। यदि कर्म के उदय से झांकते होवें तो फिर झांकते ही रहें। ध्यान होगा आप लोगों को कि जब फाल्गुन मास आता है, उस समय रंग खेलने का एक खेल आता है होली। होली का अर्थ यही है कि उस समय सारे-के-सारे लोग इकट्ठे होकर रंग खेला करते हैं और आनन्द का भी लाभ लेते हैं। लेकिन यह ध्यान रखना, प्रेस किये हुए कपडे कोई नही पहनता और जो पहनना चाहे वे बाहर भी नही जाते। बाहर न जाते हुए भी उनके मन में यह विकल्प तो जरूर पैदा हो सकता है कि कम-से-कम बाहर क्या हो रहा है? यह देख तो लूं और जैसे ही वे बाहर झरोके से झांकते हैं उसी समय रंग लग जाता है। अब बोलो! जिस समय झांका उसी समय रंग लगा कि बिना झांके ही लग गया। उसी प्रकार उदय जो है बाहर है और आत्मा, अंदर-अंदर और बहुत अंदर चला गया है वहाँ तक उस रंग का प्रभाव नही पडेगा।

इसीलिये मैं यह कहता हूँ कि यह मनचलापन तो है ही कि बाहर क्या हो रहा है देख तो लूं। बच्चों जैसा काम करते हैं आप लोग। बस! थोडे में गये बाहर और सारे-के-सारे नहा करके आ जाते हैं रंग में। संवर तत्त्व अंदर-ही-अंदर प्राप्त होता है बाहर आ जाओ तो कर्म का प्रभाव नहीं पडेगा। और उदय भी यूं ही चला जायेगा। आस्रव और बंध रुक जायेंगे। एक कला है यह संवर तत्त्व। आस्रव होने के उपरान्त बंध होता है और कर्मों का बंध होने के उपरान्त वह कर्म उदय में आता है तो उस उदय के बोझ को, उपयोग सहन नही कर पाता और उस समय वह डरकर संवर तत्त्व को भूल जाता है जिसके फल-स्वरूप नया बंध होने लगता है। इस नये बंध को रोकने के लिये क्या किया जाये? और कुछ नही उस उदय के ऊपर अपना प्रभाव डाल दिया जाये।

सपेरे होते हैं न, सपेरे, साँप को पकड़ने वाले। वे साँप को क्या ऐसे ही पकड लेते हैं, जाकर, फूलमाला जैसे। नही, उनकी क्या हिम्मत, वे उसे पकड़ लें, लेकिन पकड़ते तो हैं इसमें कोई संदेह नही। तो कैसे

पकड़ते हैं? वे पकड़ने से पहले साँप को जगाते हैं। जहाँ कहीं भी हो, वहाँ से वह साँप उनकी ओर आ जाता है। और वे क्या बजाते हैं? बीन बजाते हैं। ऐसे बीन बजाते हैं कि बस! वह साँप उनके सामने आकर बैठ जाता है। काटता भी है क्या? नही। उसमे कोई बाधा आ जाये तो उसी को काट लेगा किंतु जो बाँसुरी बजाता है उसको तो वह काटता नहीं है। उस बीन के साथ-साथ स्वर-से-स्वर समाहित करके वह नाचना प्रारंभ कर देता है और उसका नाचना ऐसा साधारण नहीं होता। वह नाचते-नाचते अपना नाश्ता ही भूल जाता है, काटना भूल जाता है, खाना-पीना, कोई विरोधी, कोई सहयोगी कुछ भी नही, इतना लीन हो जाता है उस संगीत मे कि बस! वह अपने-आप के स्वभाव को ही भूल जाता है, और उसी समय वह सपेरा उसको पकड़ लेता है। और बाद मे उसके दाँत भी तोड देता है।

मैं सोचता हूँ ऐसे ही जब कर्म का उदय आ जाये तो वीतराग रूपी बीन बजाना प्रारंभ कर दे। उदय आ भी जाये तो वह कहता है कि मै कुछ भी नही करूँगा, आपने तो जादू कर दिया, मै तो वापिस जा रहा हूँ और वह चला जायेगा। वापिस आयेगा तक नही, उसका (कर्म का) सारा नशा उतर जायेगा। बंधुओ! वीतरागता मे इतनी शक्ति है कि उसके आगे कोई भी शक्ति शेष नही है। राग के माध्यम से तो आत्मा दु:खी हो जाता है और वीतरागता के माध्यम से सुखी हो जाता है। अब आप ही सोचो, आपको सुख चाहिये या दु:ख। आप झट कह देंगे—बाँटना चाहो तो सुख ही चाहिये मुझे। बाँटना नही चाहता हूँ मै और बाँटा भी नही जाता उसे (सुख को)। और दूसरी बात यह है कि आप लोग जब कोई चीज बना लेते है खाने की खीर, हलुआ इत्यादि, तो आप बाँटते हो क्या? नही बाँटते बल्कि जल्दी-जल्दी इधर-उधर देखकर साफ-सूफ करके ऐसे बैठ जाते है चुपचाप कि कुछ हुआ ही नही और अगर कोई आकर कह देता है कि यह क्या? मुझे भी तो कुछ थोड़ा-सा दे दो। वाह! भइया पसीना-पसीना हो गया हूँ उस समय मिला है। सुबह से कर रहा था हलुआ, बना रहा था और अब खा रहा हूँ। तुम तो बैठे-बैठे आ गये, परिश्रम कुछ किया नही। माँगने में तुमको क्या? दर्द थोडे ही होता है। इसी प्रकार बहुत परिश्रम करके मै संवर को प्राप्त कर रहा हूँ। आपको बाटूँगा थोड़े ही। आपको दिखा-दिखा कर

खाऊँगा ताकि आपके मुँह में भी थोड़ा रस आ जाये। हाँ आप यह अवश्य पूछ सकते हैं कि इसको बनाया कैसे? तो बनाने का रसायन मैं बता सकता हूँ लेकिन दूंगा नहीं, क्योंकि दिया भी नहीं जाता।

उस मिठास को आज तक आपने नही पाया है और मैं सोचता हूँ कि इतने स्वादिष्ट पदार्थ को छोडकर ये संसारी जीव कहाँ नीम जैसे कडुवे भौतिक पदार्थों में रस ले रहे है। बिल्कुल ऊँट के समान स्थिति हो रही है। ऊँट उस दिन बहुत ही आनन्द मनाता है जिस दिन कोई नीम का वृक्ष उसे मिल जाता है। उस दिन उसको दीवाली आ जाती है क्योंकि आप लोगो को दीवाली के दिन लड्डू मिलता है। इसी प्रकार जिस दिन नीम उसको मिल जाती है उस दिन वह नीम उसे लड्डू के समान नजर आती है। ऐसे ही यह संसारी प्राणी विषयों को, पंचेन्द्रिय की विषय सामग्री को पाकर समझता है कि बस, आज दीवाली आ गयी और यही एकमात्र संसार का कारण है।

संवर तत्त्व यदि एक दिन के लिये भी मिल जाता है तो ध्यान रक्खो, उस ससारी जीव का ससार अब टिकने वाला नही है। वह संवर द्वारा समीचीन रूपेण संहार कर देता है कर्मो का। आगे के कर्मों को भी रोक देता है इतनी शक्ति आ जाती है एक सवर के माध्यम से। जैसे कोई आशीर्वाद दे देता है और शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार संवर भी एक प्रकार का आशीर्वाद का प्रतीक है जिसके माध्यम से सारे-के-सारे बाधक तत्त्व रुक जाते है। एक अमोघ शस्त्र है, आस्रव और बंध को रोकने के लिये यह सवर तत्त्व। यह संसारी प्राणी इस सवर-तत्त्व रूपी कवच को पहिनकर मोक्षमार्गी कहला सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

अत. यह सवर अनन्य कारण है मोक्ष का। इस सवर के लिये गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आवश्यक है। यह भी ध्यान रखें कि चारित्र मात्र आस्रव और बंध का ही कारण नही है। यदि ऐसा होता तो पूज्यपाद उमास्वामी भूल करते क्या? सवर की कोटि मे उन्होंने 'साधकतमत्त्वात्'—ऐसे शब्द का निर्देश किया है। इससे यह समीचीन रूपेण सिद्ध हो जाता है कि चारित्र के अलावा, संवर कराने मे सहायक अन्य कोई श्रेष्ठ सामग्री विश्व मे नही है और यह

त्याग के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। बिना त्याग के यह चारित्र रूपी हार पहनने वाला कोई नहीं है। इस हार के माध्यम से ही मनुष्य अलंकृत हो सकता है, शोभा को प्राप्त हो सकता है, सफलीभूत हो सकता है। इसके बिना वह जीवन पतित रहेगा, कलंकित रहेगा। ऐसा कलंकित जीवन नहीं जीना है बल्कि अलंकृत करना है अपने जीवन को इन चारित्र रूपी आभूषणों के माध्यम से।

महावीर भगवान् की जय !

निर्जरा

अभी तक जो कर्मों का आगमन हो रहा था उसका संवर करने के उपरान्त एक रास्ता प्रशस्त हो गया है कि शत्रुओं की संख्या जो दिनों दिन बढ रही थी वह स्खलित हो गयी है। अब अपना कार्य एक ही रहा है कि अपने घर मे हमारी अज्ञान दशा के कारण, हमारे बेहोश होने के फलस्वरूप जो शत्रुओ का आगमन हो चुका है उनको बाहर निकालना।

इसमें कोई संदेह नही है कि दस दिन से भी यदि किसी व्यक्ति को निद्रा नही आयी हो और वह व्यक्ति नीद लेना चाहता है और आपके घर आकर कहता है कि मुझे कोई एक कोना दे दो ताकि मैं पर्याप्त नीद ले सकूं तो आप कहते हैं कोई बात नही, आप आइये, सोइये यहाँ आपके लिए पलग भी है, यह गद्दा भी है, तकिया भी है और ओढ़ने के लिये भी है, सब कुछ है और जब वह सोने लगता है तो उस समय आप कह देते है हम ५-६ दिन से इस कमरे में नही गये हैं। क्यो? क्या बात है? और कुछ नही है एक बडा सर्प अंदर गया है इसलिये हम लोगो ने उस दिन से कमरे में सोना ही छोड़ दिया। अब दस दिन से नीद से सताया गया वह व्यक्ति नीद लेगा क्या? ये शब्द सुनते ही उसकी निद्रा पता नही कहाँ भाग गई। नीद लेने की इच्छा थी, किन्तु वह कहता है कि मैं कैसे नीद लूं, नीद लग नहीं सकती। इसे कहते हैं साइकालॉजी। इस तरह से नही होते हुए भी हम भय खडा कर सकते है, सामने ला सकते है। जब मालूम पड गया कि यहाँ सर्प है, तो वह व्यक्ति कहता है कि मै सोऊँगा तो सही यहाँ पर, लेकिन जब तक सर्प यहाँ से नही निकलेगा तब तक नही सोऊँगा। हम तो नही निकालेंगे। आप मत निकालो पर मै तो निकाल ही दूँगा। निकालने के उपरान्त ही नीद लूगा और वह व्यक्ति जो नीद लेने का इच्छुक है सर्प को टटोलता है कहाँ गया है, आवाज करता है सभी प्रयास करता है और निकाल कर ही बाद में वह शयन करता है।

मै यह सोचता हूँ—आप लोग कैसे नीद ले रहे है समझ मे नही आ रहा है। आपकी निद्रा की बलिहारी है आपकी निद्रा किस क्वालिटी की है। एक नही, दो नही, तीन नही, चार नही, पाँच नही, पूरे आठ कर्मों के

रूप में एक समय में अनन्तानन्त पुद्गल कार्मण वर्गणाएँ कर्म के रूप में परिणत होकर आत्मा के प्रदेशों पर अपनी सत्ता जमा रही है और उसके साथ-साथ उन शत्रुओं को निमंत्रण देने वाले आत्मगत वैभाविक परिणति रूप शत्रु जो अनादि काल से अपने पास रह रहे है उनके लिए आप लोगों के माध्यम से आस्पद (आश्रय-स्थान) मिल रहा है और फिर भी आप निश्चिंत सो रहे है तो आपकी निद्रा की तो कोई विशेषता अवश्य है। और इसके उपरान्त अगर उस व्यक्ति को यह नही बताया जाता कि यहाँ सर्प है तो वह सर्प को याद ही नही करता और निर्विघ्नरूपेण, आनदरूपेण वहाँ सो जाता और निद्रा भी लग जाती। ठीक उसी प्रकार कुछ ससारी जीव ऐसे है जो अज्ञानी है उन्हें मालूम नही है कि कौन शत्रु है, कौन मित्र है और वे शत्रु के सामने भी सो रहे है उनकी तो मै बात नही करता लेकिन आप लोगो को तो यह विदित हो गया है कि आठ कर्म और उन आठ कर्मों मे भी जो रागद्वेष है वे अपने शत्रु है और फिर भी उन शत्रुओं को अपनी गोद में सुला कर आप सो जाते है तो आपका ज्ञान कुछ समझ मे नही आ रहा है। आपको कौन-सा साइकालॉजीकल इफेक्ट हो गया है, 'जान बूझकर अंध बने है आँखन बाँधी पाटी।'

यदि अधा गिरता है कुए मे, तो कोई विशेष बात नही है किन्तु जानते हुए भी जो जान-बूझकर अधा बन रहा है—वास्तविक (रियल) अधा तो वही है। वह अंधा नही है—वह तो मात्र आँखो के माध्यम से अधा है, इद्रियो की अपेक्षा से तो वह आप से भी आगे का है यह भी ध्यान रक्खो, किंतु जो व्यक्ति रागद्वेष-मोह रूपी मदिरा पीते ही जा रहे है उनके पास आँखे भी है तो भी जानबूझ कर अधे बने है 'आँखन बाँधी पाटी'। आँख होते हुए भी जिस समय आँखों पर पट्टी बाँध दी जाये वही बात हुई न। प्राय करके बच्चे यह खेल खेलते है न। उसको क्या कहते है? आँख-मिचौनी, हाँ वही है और कुछ भी नही। यह खेल तो बच्चे खेलते है। तो मै यह सोचता हूँ कि यहाँ ये सारे के सारे खेल रहे है आँख मिचौनी। यहाँ कोई आँख वाला दीखता ही नही। बड़ा मुश्किल है। तो सर्प जान लेने के उपरान्त नीद आ नही सकती, पर आ रही है इसका अर्थ तो यह हो गया कि अपने शत्रु कौन है आज तक जिन विद्वानों को यह ज्ञात नही है, उनका वह ज्ञान तो मात्र भार-रूप हो

गया। जानबूझ करके भी हम दीपक हाथ में लेकर कुए में गिर रहे हैं—'ले दीपक कुएँ पडे।"

देखो, अंधकार में एक व्यक्ति उधर से आ रहा था, अंधा था वह और इधर से जा रहा था एक आँख वाला। तो दोनों की टक्कर हो गयी। आँख वाले के ही मुँह से सर्वप्रथम आवाज निकलती है—क्या अंधे हो तुम? दिखता नही है। एक्सीडेंट जहाँ कही भी हो जाये प्रत्येक व्यक्ति अपनी गलती को नही स्वीकारता। वह कहता है कि आप ठीक कह रहे हो, मैं अंधा हूँ, मेरे नेत्र नहीं है भाई। अच्छा! यह बात है इसीलिए आपने मुझे धक्का मार दिया। अंधा बोला—गलती तो हो गयी है, माफ कर देना। फिर दूसरे दिन वह आदमी उस अंधे से फिर मिल गया, लेकिन आज उस अंधे के हाथ मे लालटेन थी। अब वह नेत्र वाला कहता है अरे! तुमने तो मुझसे कल कहा था कि तुम्हारे आँख नही है तुम अंधे हो, फिर भी हाथ मे केन्डिल (लालटेन) क्यो ले रक्खी है? पागल हो क्या? तुम्हारे पास आँख तो नही है लेकिन साथ मे दिमाग (माइण्ड) भी नही है। हाँ भाई यह विल्कुल ठीक कहते हो, मेरे पास दिमाग एक ही है इसलिये ऐसी गलती हो रही है। यह केन्डिल (लालटेन) मैं इसलिये रख रहा हूँ कि चूँकि मेरे पास आँख तो नही है और साथ ही साथ इस लालटेन की आवश्यकता नही है लेकिन आप जैसे महोदय कोई टकरा न जाये आँख वाले, उनको देखने मे आ जाये इसलिये यह केन्डिल रख रक्खी है, पर इसके उपरान्त भी आप टकराते हैं और मेरे दिमाग की बात करते हैं। मैं सोचता हूँ मेरे पास तो दिमाग एक ही है पर आपके पास डेढ़ दीखता है डेढ। जिसको डेढ़ अकल वाले भी कहते है।

प्राय: करके जहाँ कोरा ज्ञान होता है उस ज्ञान के माध्यम से जो कार्य करना चाहिये वह यदि नही होता है तो ऐसा ज्ञान 'ले दीपक कुएँ पड़े'—की कहावत को चरितार्थ करता है। तो जिन जीवों को अभी शत्रु विदित नही है उनकी तो कोई बात नही है—एक इद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इद्रिय, चौ इद्रिय और असज्ञी पंचेन्द्रिय तक को यह मालूम नही है कि आत्मा के शत्रु कौन हैं इसीलिये वे भटक रहे है, ठीक है; किन्तु जिन्हे मालूम पड़ गया है—यह विदित हो गया है कि आत्मा के शत्रु कौन है; उनकी बात ही निराली है।

'क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष परिणाम।
ये ही तेरे शत्रु है समझो 'आतमराम'।

हमारे शत्रु हमारे अंदर छिपे है उन्हे हम निकाल दे बस! पड़ोसी की ओर देखने की कोई आवश्यकता नही है। बाहर कोई शत्रु है ही नहीं। बाह्य शत्रु और मित्र–ये मात्र नैमित्तिक है कुछ भी उनमें एतत् संबंध या खुशी देने की सामर्थ्य नही है। देखो दीवार हमारे लिये परेशानी का कारण नही बन सकती अगर एक गेंद को लेकर, दीवार के ऊपर आपने फेक दिया, दीवार ने प्रत्युत्तर में आपको वह गेंद फेंक दी, परन्तु वास्तव में दीवार ने नही फेंकी किन्तु दीवार के निमित्त से उस गेंद का परिणमन ही ऐसा होता है कि जितनी तेजी से आप फेंको और यदि वहाँ कड़ा स्थान है तो वह उतनी ही तेजी से आपकी ओर आयेगी। आपने फेंका उसी का प्रतिफल है यह। न तो उस दीवार के पास ऐसी कोई शक्ति है और न ही उस गेंद के पास है। अपने आप वह गेंद आकर नहीं लगती, गेंद मे उस प्रकार की प्रक्रिया हम पैदा कर देते है। ठीक इसी प्रकार ये रागद्वेष अपनी ही प्रतिक्रियाएँ है, इनके माध्यम से हम लोग बार-बार परेशान होते चले जा रहे है। शत्रु यदि कोई है तो वह हमारे अदर है और मित्र भी यदि कोई है तो वह भी हमारे अंदर है। किनका सहार करना है और किनका पोषण करना है–यह हमें समझ मे आ जाये तो इसके उपरान्त जो–

'ज्ञानस्य फलं उपेक्षा अज्ञानहानिर्वा' ऐसा सर्वार्थसिद्धिकार ने कहा है, इसका अर्थ आत्मसात् हो सकेगा। ज्ञान का फल क्या है? तो उन्होंने 'उपेक्षा' लिखा है। यहाँ उपेक्षा का अर्थ है चारित्र और उसके उपरान्त लिखा है "अज्ञान हानिर्वा", अज्ञान की हानि। इसका अर्थ यह है कि जो कोई भी आज तक अज्ञान हमने पाला है वह सारा नष्ट हो जाये। महाराज यह उल्टा हो गया। पहले तो अज्ञान हानि लिखना चाहिये था फिर उसके उपरान्त उपेक्षा लिखना चाहिये था क्योंकि पहले ज्ञान होता है फिर उसके उपरान्त चारित्र होता है। पर यह ध्यान रक्खो भैया, चारित्र पहले होता है स्वाभाविक ज्ञान तो उसके बाद होता है। केवल ज्ञान स्वाभाविक ज्ञानभाव है। केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये चारित्र की नितान्त आवश्यकता है। ऐसा कोई भी रास्ता नही है, ऐसी कोई भी

पगडंडी नहीं है जिस पर चलकर बिना उपेक्षा (चारित्र) के हम केवल ज्ञान-सूर्य को प्राप्त कर लें। यह चारित्र नितान्त आवश्यक है। इसलिये जो कोई भी शास्त्र स्वाध्याय का परिणाम निकलेगा उसमें प्रथम परिणाम तो यही है कि तत्काल उस व्यक्ति को उपेक्षा (चारित्र) की ओर मुड़ना चाहिये; अर्थात् अपेक्षा का एक विलोम भाव यदि है तो वह उपेक्षा है और वास्तविक निर्जरा उसी को कहते हैं। जो कोई भी शत्रु अंदर हैं उनको निकालने का यदि एक तरीका है तो वह है निर्जरा। महाराज, हम लोग भी निर्जरा कर रहे हैं। हाँ! लेकिन यह ध्यान रक्खो, आप लोग निर्जरा कर नहीं रहे हैं आप लोगों की निर्जरा हो रही है। यहाँ मैं करने की बात कह रहा हूँ। होने की बात तो ऐसी है कि वैसे ही समय आने पर उन कर्मों की निर्जरा या जाना होता है लेकिन आस्रव की धारा भी बहती रहती है इसलिये वह धारा बहने के फल-स्वरूप कभी भी उन शत्रुओं का अभाव नहीं होगा। समय पर यदि कर्म खिर जाते हैं तो उसका नाम यहाँ निर्जरा नहीं है। निर्जरा तो यह है कि आने का मार्ग रुक जाये और अंदर वालों को बाहर निकालकर फेंक दे।

सविपाक निर्जरा जो संसारी प्राणियों के प्रत्येक समय हो रही है वह अर्हट-चक्र की भाँति हो रही है। अर्हट घटी यंत्र को कहते हैं, जिसको आप लोग रहट बोलते हैं। इसमें कई कलश या मटकियाँ बंधी रहती हैं, किन्तु एक साथ मटकियाँ नहीं बधी रहती, एक के ऊपर एक, एक के ऊपर एक जैसे अंगुलियाँ हैं उसी प्रकार बंधी रहती हैं और जब कभी आप देखेंगे तो पायेंगे कि आधी मटकियाँ खाली होती चली जा रही हैं और तात्कालिक ज्ञान होता है कि अब धीरे-धीरे ये सारी की सारी मटकियाँ खाली हो जायेंगी किंतु यह नहीं है, वह एक ऐसी माला है कि एक खाली हो गयी है तो दूसरी जो है भरी हुई है, वह ऊपर की ओर आ रही है और देखते-देखते वह खाली वाली मटकी यों अंदर चली जाती है पुनः भर कर आती है तो यह खाली हो जाती है। इस प्रकार दस-बीस मटकियों की माला रहती है और मालूम नहीं पड़ता है कि कब ये खाली होती हैं और कब ये भरती हैं। तो भरती भी हैं और खाली भी होती हैं; तथापि वह पानी आना रुकता नहीं है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि हम निर्जरा कर लेंगे; कब? जब सारे के सारे खाली हो

जायें, फिर बाद में हम देख लेंगे। वह खाली तो होने वाले नहीं है यह ध्यान रक्खो, कर्मों की निर्जरा आपके भी उसी प्रकार की हो रही है। उदयागत कर्म निर्जीर्ण हो रहे हैं पर सत्ता में—बेलेन्स में शेष कर्म अवश्य रहते हैं और वे जब उदय में आ जाते हैं तब तक अन्य नये वाले बेलेन्स में चले जाते हैं। इस प्रकार आपका बेलेन्स ज्यों का त्यो बना रहता है। इस घटीयंत्र की भाँति ससारी जीव की निर्जरा हो रही है। यह निर्जरा कोई कार्यकारिणी नहीं है। अत. एक ऐसी निर्जरा भी है जो कि आत्म-पुरुषार्थ से होती है, वह निर्जरा कर्मायत्त नही है; किन्तु वह निर्जरा, "तपसा निर्जरा च" वाली निर्जरा है। जब कर्म सभी झर जायेंगे महाराज! तब अपने को मुक्ति मिल ही जाती है—ऐसा नही है। आचार्य कह रहे है। मुक्ति की प्राप्ति के लिये तो ऐसा कोई भी योग नही है जो अपने आप हो जाये, मुक्ति अपने आप नहीं होने वाली। जब कभी भी विगत में जिन्होने मुक्ति पाई है उन्होने अपने पुरुषार्थ के वल पर ही पाई है क्योकि पुरुषार्थ के बल पर ही तो बंध किया है। अपने आप बध हो गया हो तो अपने आप मुक्ति भी मिल सकती है, लेकिन यह ध्यान रक्खो, अपने आप बध होता हो तो मुक्ति का कोई सवाल ही नही उठता क्योकि वह होता ही चला जायेगा निरतर (कन्टीन्युअस)। इसलिये अपने आप कोई कार्य नही होता, आत्मा उसका कर्ता है। आत्मा उसका कर्ता है इसलिये वह उसका भोक्ता भी है, लेकिन आत्मा जब उसका कर्ता है तो आत्मा ही उसका संहार-कर्ता भी बन सकता है भैया! इसलिये आचार्यों की दृष्टि में आत्मा ही अपने आप का विधाता है, ब्रह्मा है, विश्व का विधाता नही है, वह अपने कर्मों का है, इसलिये कर्म का ही दूसरा नाम संस्कृत में विधि भी लिखा है। विधि यह ही लिखी थी महाराज! क्या करे? विधि कोई कुछ नही है विधि का अर्थ कर्म है और लिखी क्या थी बल्कि आपने की थी—यूँ कह दो आप। कोई अपने आप लिखी थोड़े ही है, कोई वहाँ पर लिखता हो ललाट पर ऐसा नहीं है। हम जो कुछ भी कर्म करते है, वह ही चिपक जाते हैं और वे ही विधि या विधाता के रूप में कहे जाते हैं। उस विधि का विधाता हमारा आत्मा है, अर्थात् आत्मा ब्रह्मा भी है, उसका संरक्षक भी है अर्थात् आत्मा विष्णु भी है और आत्मा चाहे तब उन कर्मों का संहार भी कर सकता

है इसलिये महेश भी है। इस प्रकार हम एक ही आत्मा में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कल्पना कर सकते हैं।

किन्तु आज तक हम ऐसे कृपण बने हैं, ऐसे कृपण बने हैं कि हम कमाते तो जा रहे हैं, रखते भी जा रहे हैं, पर उसे खर्च नहीं करना चाहते हैं, छोड़ना नहीं चाहते हैं और छोड़ते भी हैं तो पहले नया ग्रहण कर लेते हैं बाद में उसके साथ-साथ इस पुराने को छोड़ देते हैं। यह आप लोगों को मालूम नहीं है इसको हम भी कहते हैं पूर्ण रूपेण, और इसी को कहते हैं निर्जरा तत्त्व।

वास्तविक निर्जरा तत्त्व जो मोक्षमार्ग में कारणभूत है वह यह निर्जरा तत्त्व है। इसको पाये बिना मोक्षमार्ग नहीं। यह तत्त्व बिना तप के नहीं आता। आप पूछ सकते हैं कि महाराज! हम सारे गृहस्थ ही तो है और हमारे पास कहाँ का तप आयेगा? तप तो आपके लिये बताये गये हैं और वे बारह तप हैं। पर ऐसा नही है। निर्जरा की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने बताया है कि निर्जरा कहाँ से प्रारभ होती है। उन्होंने लिखा है कि जो भगवान् का सच्चा उपासक होता है उसी से, वहीं से यह प्रारंभ होती है अर्थात् गृहस्थ आश्रम में भी यह निर्जरा होती है। अविपाक निर्जरा बाद में तप के माध्यम से अर्थात् संयम के माध्यम से हुआ करती है। महाराज! हमारे पास कोई संयम तो है नही, हम असंयमी है। क्यों नही है संयम? एक असंयम को तो आपने उड़ा ही दिया है जो कि अनंतानुबंधी था, वह जब चला जाता है तो बहुत जल्दी मार्ग प्रशस्त होने लग जाता है और दूसरी बात यह है कि दर्शन मोहनीय जो भुलावे में डालने वाला होता है उसको मेटने के उपरान्त एक और शक्ति आ जाती है। एक आंख में अगर खराबी हो जाये तो दूसरी में भी पानी आने लग जाता है। ऐसा होता है कि नहीं! उसी प्रकार एक दर्शन मोह को ज्यों ही धक्का लग गया तो दूसरा मोह सोचता है कि आज नही तो कल यह प्रहार मेरे ऊपर भी होगा। एक आँख का आपरेशन हो गया तो दूसरी आँख का भी कराना पड़ेगा। दोनों का कनेक्शन है, दो हैं लेकिन दोनों का ऐसा संबंध है ऐसा गठबंधन है। उसी प्रकार एक मोह को जब धक्का लग जाता है, तो दूसरे मोह को धक्का लग ही गया समझो, बल्कि यूँ कहना चाहिये कि दर्शन मोहनीय के साथ जब अनंतानु-

बंधी चली जाती है तो वहाँ बाद में शेष चारित्र मोहनीय की बहुत ही कम शक्ति रह गयी इसलिये निर्जरा तत्त्व वहीं से प्रारंभ हो जाता है। यह निर्जरा तत्त्व पूर्ण बंध को रोक नहीं सकता इसलिये उसे मूल रूप से निर्जरा तत्त्व मे नही गिनते किन्तु गिनती में प्रथम तो वह आ ही गया।

अब यहाँ चल रही है उस निर्जरा की बात जो मुख्य है, क्योंकि जो मुख्य चीज है उसका व्याख्यान हो जाये तो गौण जितने भी है वे सारे के सारे आ ही जाते है, क्योंकि ग्राहको के सामने प्राय: करके यदि अच्छा ग्राहक आता है तो कीमती चीज ही दिखाई जाती है फिर उसके उपरान्त यदि वह नकारता है तो बाद में अन्य का नम्बर लग जाता है। उसी प्रकार निर्जरा तत्त्व मुख्य रूप से वह है जो 'तपसा निर्जरा च' जो तप के माध्यम से हुआ करती है। **निर्जरा का अर्थ है अन्दर के सारे-के-सारे कूड़े-कचरे को निकाल बाहर फेंक देना और जब तक अंदर के कचरे को निकाल कर हम फेंकेंगे नहीं तब तक अंदर के आनंद का जो स्रोत है वह स्रोत बाहर को फूटेगा नहीं और जब तक वह आनंद नहीं आयेगा तब तक हमारा संवेदन दुःसंवेदन ही रहेगा, दुःख का संवेदन ही रहेगा।**

निर्जरा करने वाला व्यक्ति बहुत होशियार होना चाहिये, पहले दरवाजा बंद कर ले फिर अदर-अदर टटोले। कौन-कौन से निकालना और कौन-कौन से नही निकालना। अदर से निकालने के लिये किसकी आवश्यकता है? जरा-सी ज्ञान-ज्योति की आवश्यकता है; क्योकि जहाँ घना अंधकार छाया हुआ होता है वहाँ थोड़ा-सा भी प्रकाश पर्याप्त हो जाता है। और वह वस्तु इतनी स्पष्ट देखने में आ जाती है जितनी वह बाहर से नही आती। अंदर के जितने सूक्ष्म तत्त्व है उन तत्त्वों को देखने के लिये एक प्रकाश विशेष की आवश्यकता है, वह प्रकाश ज्ञान-नेत्र के माध्यम से प्राप्त होता है। आँख मीच करके बाहर के सारे के सारे पदार्थों को संवर के माध्यम से हटा दिया गया और फिर अन्दर की ज्योति को अंदर के पदार्थों के ऊपर हम प्रवाहित कर दें तो उपादेय कौन, और हेय कौन है? सारे के सारे मालूम पड़ जायेंगे; लेकिन यह ध्यान रखना जब तक हमारी दृष्टि बाहर लगी

रहेगी तब तक निर्जरा की ओर नहीं जायेगी। इसीलिये आचार्यों ने सर्वप्रथम संवर का व्याख्यान किया। यह संवर किसका? सभी का मात्र आने वालों का ही नहीं, वरन् आने वाले सभी मार्गों का भी संवर। आने वालों का संवर यह तो औपचारिक हो गया, दरवाजा ही बन्द कर लो अब तो। इसका अर्थ क्या है यहाँ दीखता है राग पैदा हो रहा है वहाँ से हट गया और दूसरी बाजू में चला गया। वहाँ एक अलग ही रंगीन पदार्थ मिल गया, जहाँ वह विकार पैदा करने लगा। वहाँ से अन्यत्र भी चला गया। इस प्रकार पंचेन्द्रिय के विषय यत्र-तत्र लोक में सर्वत्र बिखरे हुए है, ऐसी स्थिति में उनका क्या संवर करना। वह संवर तो तब हो जाता है जब दरवाजा ही बंद कर दिया जाता है।

अजमेर की बात है, एक विद्वान् जो दार्शनिक था, वह आया और कहा महाराज—आपकी चर्या सारी-की-सारी बहुत अच्छी लगी, श्लाघनीय है। आपकी साधना बहुत अच्छी लगी मुझे; लेकिन एक बात है। समाज के बीच आप रहते है और बुरा नहीं मानें तो कह दूँ। अरे भैया बुरा क्या मानूंगा जब आप कहने के लिये तैयार हो ही रहे है तो बुरा मानने की बात ही नहीं है, वैसे भी मै बुरा नही मानता, बहुत अच्छा मानूंगा, और यदि मेरी कमी है तो मंजूर भी करूँगा। नहीं-नहीं महाराज! ऐसी कोई बात नही है। पर बुरा न माने तो हम कह देते है। भैया हमने एक बार कह दिया, तीन बार कहने की क्या आवश्यकता है, तीन बार तो शुद्धि बोलनी चाहिये आप लोगों को। तो उन्होने कहा बुरा नहीं मानें तो मै यह कहना चाहता हूँ कि आपको कम-से-कम लँगोटी तो रखना चाहिये जैसे ये क्षुल्लकजी महाराज बैठे है। कम-से-कम एक लँगोटी तो रखना चाहिये, समाज के बीच आप रहते है, उठते-बैठते, आहार-विहार-निहार सब कुछ करते है और आप तो वैसे निर्विकार हैं ही लेकिन हम लोग सारे-के-सारे रागी है न; इसलिये आप यदि लँगोटी लगा लें तो बहुत अच्छा! यह चर्चा उस समय इसलिये उठी थी कि भगवान् महावीर भी अहिंसक हैं, इस प्रकार कह कर कई चित्रों के साथ महावीर भगवान् की भी एक फोटो रखी गयी जो निर्वाण महोत्सव कमेटी की तरफ से निकलने वाले बुलेटिन में छपी थी। उस किताब को जब मैंने देखा तो पाया कि ये

अन्य सारे-के-सारे हैं पर हमारे महावीर भगवान् तो इसमें हैं ही नहीं। मैंने कहा--इसमें महावीर भगवान् तो नहीं हैं। नहीं, महाराजजी ! आये हैं न इसमें, यह देखो लास्ट नम्बर वाले। मैंने कहा, ये महावीर भगवान् तो हैं नही, ये तो आप लोगों जैसे दीख रहे हैं। नहीं-नहीं महाराज ! ये तो बिल्कुल दिगम्बर है। हाँ भैया, मुख तो दिगम्बर आप लोगों का भी है, आपने मुंह पर कहाँ कपड़ा पहना है। दिगम्बर इसको थोड़े ही कहते हैं। हाथ भी दिगम्बर हैं ये, नही समझे। महावीर भगवान् ऐसे दिगम्बर थोड़े ही है। दिगम्बर तो बिल्कुल वस्त्र से रहित होते है। वस्त्र कहाँ पहने है महाराज ! याद रक्खो, वस्त्र कई प्रकार के होते हैं, यह जो लकड़ी सामने लाई गई है, यह लकड़ी भगवान् महावीर के लिए वस्त्र का काम कर रही है। इसे हटा दिया जाये तो हमारे महावीर भगवान् से साक्षात्कार हो सकता है, अन्यथा नहीं। तो उस समय यह बात चली थी कि एक लँगोटी तो आप पहन ही लो। तो मैंने कहा--भैया ऐसा है कि महावीर भगवान् का बाना मैंने धारण कर रक्खा है और महावीर भगवान् कौन है ? यह कम-से-कम ढाई हजार वर्ष के उपरान्त भी मालूम पड़ जाये कि महावीर भगवान् कैसे थे ? तो यह बाहरी शब्दों से थोड़े ही मालूम पड़ेगा कि ऐसे थे। वे जीवित थे, तो ऐसे थे यह बताना पड़ेगा। पर महाराज ! इसमें तो ऐसा है कि आप तो निर्विकार है ही, आप अपनी तरफ से मत पहनो लेकिन हम पहनाये देते हैं। मैंने कहा--अच्छा ! आपकी दृष्टि तो बिल्कुल ठीक दीखती है आप की दृष्टि भी निर्विकार दीख रही है लेकिन दूसरों की रक्षा के लिये आप काम कर रहे है कोई बात नहीं है; लेकिन एक बात कहता हूँ लँगोटी के लिए तो कम-से-कम आधा मीटर कपड़ा चाहिये और एक लँगोटी से काम नही चलेगा, दो चाहिये, दो के लिए कम-से-कम एक मीटर कपड़ा हो गया और यह एक मीटर कपड़ा तो बहुत हो गया और महावीर भगवान् का यह भी सिद्धान्त है कि जितना कम आरंभ और परिग्रह हो उतना अच्छा है उसी प्रकार का काम करना चाहिये। मैं आपकी बात मंजूर करता हूँ, पर यहाँ तो कोपीन के लिए एक मीटर कपड़े की आवश्यकता है परन्तु आँखें कितनी है इतनी छोटी-सी तो है ऐसा करो आप हरी पट्टी एक इस आँख पर और एक दूसरी पर बाँध लो और जिस समय कोई नग्न साधु सामने आ

जाये तो ऐसा धीरे से उसको ढक लो और दूसरी बात यह भी है कि हरी पट्टी की वजह से आपको लाभ भी होगा, आँखों में रोशनी भी बढ़ेगी इस तरह दोनों काम हो जायेंगे और मेरा काम यूं ही निकल जायेगा और कम परिग्रह भी होगा। इस प्रकार जो विकारी बनता है उस व्यक्ति को ऐसी पट्टी बाँध लेना चाहिये।

महावीर भगवान् निर्जरा तत्त्व को अपनाये हुए थे और उन्होंने संवर तत्त्व का व्याख्यान किया था तो सवरी थे अर्थात् जिस मार्ग से कर्म आ रहे थे उन्हें बंद कर दिया। संसार के बाहरी द्रव्य को बंद नही किया जाता है; बाहरी द्रव्य अपने-आप ही बंद हो जाता है। आना रुक जाता है। अगर अपना दरवाजा बद कर लो तो। आत्मा के अंदर छह दरवाजे है। पाँच दरवाजे इन्द्रिय-सबंधी या तो उन्हे विन्डोज कह दो, झरोखे कह दो जिसके माध्यम से अदर बैठे-बैठे बाहर झांका जाता है और बाहरी पदार्थ देखने में आते है और छठवाँ दरवाजा है मन। आत्मा का उपयोग तत्त्व इन छह झरोखों के माध्यम से बाहरी हेय तत्त्व को उपादेय की दृष्टि से अपनाता है, पर बाह्य तत्त्व आते नही है यह ध्यान रखना, स्थान से स्थानांतर नही होते; किन्तु उनके पास एक ऐसा तत्त्व है, जिसको बोलते है, प्रमेयत्व। जो भान कराने की शक्ति का नाम है, एक जानने की शक्ति ज्ञान है तो ज्ञेय के पास भी जो शक्ति है वह प्रमेयत्व गुण का ही फल है। और उसका रिफ्लेक्शन (परावर्तन) ज्ञान के माध्यम से आत्मा पर पड़ जाता है। रिफ्लेक्शन जो पड़ेगा वह छह इन्द्रियों के माध्यम से ही पडेगा और छह इन्द्रियों को, इन झरोखों को बन्द कर दिया जाये तो वह बाहर का रिफ्लेक्शन अदर नही आयेगा। इसी को कहते है संवर तत्त्व। जब बाह्य का आना बन्द हो जाता है तो अदर का बाहर आना भी रुक जाता है; क्योकि दरवाजा एक ही आने अथवा जाने का है। इस प्रकार जब आत्मा के अंदर की शक्ति अंदर रह जाती है तो अपने-आप ही क्या-क्या तत्त्व हैं यह समझ में आने लग जाता है। इसलिये जब संवर हो जायेगा तो निर्जरा तत्त्व के लिये बल मिल जायेगा। सवर तत्त्व का यही अर्थ है कि अपने आत्मा के उपयोग को जो बाहर की ओर जा रहा है, संवृत करके, बंद करके अंदर मोड़ दिया जाता है और तब निर्जरा तत्त्व का द्वार खुल जाता है। उस निर्जरा तत्त्व का अर्थ यही

है कि अंदर के कचरे को निकालने के लिये, बाहर शक्ति न लगा कर, अंदर की शक्ति को उद्भूत करने के लिये वहाँ कुछ कार्य करना है। यही निर्जरा तत्त्व है। महाराज! बात ऐसी है निर्जरा तत्त्व तो आप कह रहे हैं लेकिन 'तपसा निर्जरा च'–ऐसा क्यो कहा और सम्यग्दृष्टि हो गया है तो सम्यग्दर्शन से निर्जरा प्रारंभ हो गयी। दूसरी बात यह है कि निर्जरा जब हो रही है तो बिल्कुल पूर्णत: हो ही जायेगी। क्या हो जायेगी भैया, निर्जरा नही 'जरा' हो जायेगी। जरा, बुढ़ापा आ जायेगा यह ध्यान रक्खो, क्योंकि वह एकान्त रूप से अविपाकी निर्जरा नही है वह बध तत्त्व के साथ चल रही है। इसलिये सम्यग्दृष्टि की इस निर्जरा की भी इतनी कीमत नही है, किंतु उस निर्जरा को गज-स्नानवत् कहा गया है। उसकी जो कुछ निर्जरा है वह ऐसी है जैसे स्नान के समय हाथी करता है। स्नान तो कर लेता है किन्तु इधर स्नान किया और उधर ढेर-सारी धूल अपने सिर पर उडेल ली। तब कोई पूछता है कि महाराज! कुछ तो निर्जरा हो ही गयी, कुछ तो मिल गया। तो मैने कहा अभी ऐसा कुछ नही मिला। आगम में लिखा है उसकी निर्जरा तो हर समय होती रहती है। निर्जरा होना अलग है और निर्जरा करना बात अलग है। सम्यग्दर्शन के साथ निर्जरा हो रही है। यह भी एक तत्त्व समझना परम आवश्यक है। निर्जरा के समय निर्जरा करने के जो एटम (अणु) है वे कुछ अलग ही है जो कि 'तपसा निर्जरा च' है। तप तो हमारे पास नही तब निर्जरा कैसे हो महाराज और यदि सम्यग्दृष्टि है तो उसकी पहले ही निर्जरा हो रही है और उससे ज्यादा क्या होगी? यह तत्त्व बहुत गूढ़ तत्त्व है आप लोगो की दृष्टि मे। इसे समझना परम आवश्यक है, ऐसा मै समझ रहा हूँ। कई व्यक्तियो के मुख से सुनने के लिये मिल जाता है कि जो सम्यग्दृष्टि बन ही गया है तब इसके उपरान्त पूजन करना, प्रक्षाल करना, दान आदि करना इससे कोई निर्जरा तो होने वाली नही। हाँ भैया, बिल्कुल ठीक है; निर्जरा तो होगी सम्यग्दर्शन में, परंतु गुणस्थान भी नही बदलेगा इनका, क्योकि व्रत लेंगे तभी गुणस्थान बदलेगा। और जब खाते हैं उस समय भी निर्जरा हो रही है और जब दान देते है उस समय भी निर्जरा हो रही है। तो देने का कार्य

जब हो रहा है उस समय खाने का मजा भी तो नही आ रहा। अतः जब लेते हुए, खाते हुए भी निर्जरा होती है तो देते हुए क्यों करें ? यह तो घाटा पड़ जायेगा । बात तो बिल्कुल ठीक जंचती है; लेकिन आप चतुर वाणिज्यकार नहीं हैं। इसलिये नहीं हैं, कि ये जो षट्कर्म रखे गये हैं आप लोगों के लिये वे ऐसे नही है जैसे कि मुनि महाराजो के षट् आवश्यक होते हैं। आपकी भूमिका के अनुरूप कुछ अलग ही बनाये गये हैं। उनमें देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान 'षट्कर्माणि दिने दिने ।' दिने-दिने उन्होंने कहा है मै तो कह दूं पदे-पदे होना चाहिये, क्षणे-क्षणे होना चाहिये, पले-पले होना चाहिये। इस लिये होना चाहिये कि ये छहों कार्य दैनंदिन के कार्य हैं। एक के बाद एक, एक के बाद एक । इनमे प्रमाद नहीं होना चाहिये । 'आवश्यक' उस समय मे जो है वह ही करना। यह अनिवार्य है इसलिए 'अवश्यमेव भवः आवश्यक' कहा गया है।

तो इसका अर्थ यह हो गया कि पूजा करना आपके लिये आवश्यक है और आपका यह प्रश्न है कि जब पूजन करते समय भी सम्यग्दृष्टि की निर्जरा तो हो ही रही है तो पूजा से और क्या निर्जरा होगी, बल्कि जितना आरंभ होगा उतना बंध और होगा। हां बिल्कुल ठीक है, शंका बहुत उपयुक्त है लेकिन आप एक ही दृष्टि से देख रहे है ।

पहले मैने एक बार कहा था कि आप जैनी बन के काम करो, आप 'जैन' मत लिखा करो क्योंकि इस प्रकार एक दृष्टि से देख रहे हैं आप कि बंध ही हो रहा है, पूजा के समय मात्र बंध ही होता है। ऐसा आप कह रहे है इसलिये आप एक दृष्टि से देख रहे हैं। जैन यह लिखते हैं JAIN इसमे ? यह वर्ड एक बार आया है और 'आई' का अर्थ है आँख इंगलिश मे, लेकिन यहाँ एक आँख (आई) हो गयी जैन लिखते समय। जैनी लिख दो तो दो आई। दो आँख वाला हो जायेगा तो आप जैनी (JAINI) लिखा करो।

एक आँख का अर्थ है एकांत। एक ही दृष्टि से देख रहे है आप लोग। उस समय आचार्य क्या पागल, प्रमत्त थे, क्या आचार्य इसके बारे मे नही जानते थे, नही समझते थे। उन्होंने जब ग्रंथ लिखा तो वे यह जानते थे कि ये श्रावक हैं, गृहस्थ है तो इसके लिये भी कोई

आवश्यक बताना होगा, अतः जब आवश्यक बताये गये तो यूं ही नहीं लिख दिया। जो मन में आया हो वही लिख दिया हो ऐसा नहीं है, पूर्वापर विचार किया जाता है फिर उनके बाद कानूनी ग्रंथ बनते हैं, अनुभव से, तर्क की कसौटी पर वे तौले जाते हैं। इसलिये पूजा के माध्यम से सम्यग्दृष्टि का बंध तो होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि है और जब पूजा करने लगा है तो आरंभ तो होगा ही। आरंभ हो गया तो सावद्य हो गया और सावद्य हो गया तो पाप लग गया। यह बिल्कुल ठीक है इसमे कोई संदेह नहीं है; लेकिन आचार्य कह रहे है कि बंध ही अकेला होता तो ऐसा नही है, ध्यान रक्खो। उन्होंने कहा—ये आवश्यक उनके लिये तप का कार्य करते है। ये ही छह-तप हैं उनके लिये और वे तप क्यों है? वे जिस समय पूजन करते है, उस समय बंध ही अकेला नही होता किन्तु ध्यान रखना निर्जरा भी होती है, संवर भी होता है और बध भी होता है। मै यह कहाँ कह रहा हूँ कि बंध तत्त्व वहाँ अभाव को प्राप्त होता है। बध भी होता है और बध होता है तो आस्रव तो हो ही जाता है और सवर भी होता है, निर्जरा भी होती है। संवर कैसे और निर्जरा कैसे, यह देखने की आवश्यकता है। जिस समय सम्यग्दृष्टि पचेन्द्रियों के विषयों मे लीन हो जाता है अर्थात् उनका सेवन करता है उस समय उसके अनतानुबंधी सबंधी और मिथ्यात्व सबंधी प्रकृतियो का बंध तो नही होगा लेकिन यह ध्यान रक्खो, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि का तो बध होता है और उस समय में ये उच्च स्थिति के साथ बध को प्राप्त होते है, अनुभाग भी बहुत पडता है, प्रदेश भी बहुत आते है, सारे-के-सारे उसमे प्रकृति बध, प्रदेश बंध, स्थिति और अनुभाग उच्च स्तर के होते है। जिस समय विषयों मे झंपापात लेता है यह, उस समय की बात है इस समय उसके निर्जरा नहीं हुई किन्तु उसको तो बंध हुआ। अब पूजा के समय भी अप्रत्याख्यान का बध होता है, लेकिन यह ध्यान रक्खो जिस समय पूजन करेगा सम्यग्दृष्टि, उस समय वह अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ का हीन स्थिति के साथ बध करेगा और उसमे अनुभाग स्थान भी जो है जघन्य अनुभाग पडेगे जो अधिक भयानक नही होते। पाप प्रवृत्तियों के अनुभाग और स्थिति में भी कमी आयेगी उसमें द्विस्थान बध ही हुआ करता है। नीम, काँजी, विष और हलाहल ये पाप के बारे में अनुभाग के लिये उदा-

हरण दिये गये हैं। तो उस समय नीम के समान अनुभाग पड़ता है। जिस समय वह पूजन करेगा उसके स्थिति और अनुभाग बंध में बहुत कमजोरी आयेगी और हो सकता है उसी समय में वह अप्रत्याख्यान को खण्डित कर दे, समाप्त कर दे; क्योंकि वह भूमिका इसी प्रकार की होती है। उसमें उसके देशव्रत लेने की भावना जागृत हो सकती है। महाव्रत धारण करने की इच्छा हो सकती है; क्योंकि वीतराग मुद्रा सामने है उसका रिफ्लेक्शन पड़ रहा है और अंदर का सम्यग्दर्शन बोल रहा है क्यो कमजोरी कहाँ पर है, क्यों लंगोटी में अटक रहे हो। इस प्रकार वह विचार करना प्रारंभ कर देता है ऐसी स्थिति में वह जो लंगोटी है उसे उतार दे और बिल्कुल वीतराग मुद्रा को धारण कर ले। इसलिये भगवान् के सामने जा करके कम-से-कम उनसे भेंट तो कर लेना चाहिये ताकि उनके अनुरूप बनने के विचार जागृत हो सकें, जिससे विषयों के प्रति और घृणा पैदा हो सकती है। यह एक बात हो गई।

पूजन करते समय निर्जरा क्या होती है, अप्रत्याख्यान की निर्जरा तो होती ही है किन्तु अनंतानुबंधी की भी होती है निर्जरा भैया! आप पूछ सकते हो अनतानुबधी उदय मे है ही नही, अतः उसकी निर्जरा क्या करेगा? अब मैं बताये देता हूँ कि यद्यपि उदय में तो अनंतानुबंधी नही है लेकिन बेलेन्स में, सत्ता मे तो अनतानुबंधी के ढेर-के-ढेर पडे हुए हैं। मिथ्यात्व अवस्था में अनंतानुबधी का बंध किया है उसका उदय भी तो आ सकता है, उदय मे नही है तो उदयावलि में तो आ सकता है। तो जिस समय वह सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने खडा हो जाता है, पूजन करने लग जाता है और 'प्रभु पतित-पावन' बोलने लग जाता है तो उस समय अनंतानुबंधी की उदीरणा होकर अकाल में आकर वह खिर जाती है। अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ की जो चौकड़ी मिथ्यात्व के साथ संबंध रखने वाली है वह सारी-की-सारी लड़ी-की-लडी (माला) अप्रत्याख्यान के रूप में आकर फल देकर चली जाती है, किन्तु सम्यक्त्व बाधित नही होता। इसको कहते है निर्जरा तत्त्व का निष्ठापन। जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है उनके पास अनंतानुबंधी नही है पर आपके पास तो अनंतानुबंधी सत्ता में हैं ही और उसे सत्ता में से निकालना है, क्योंकि उदय में तो आयेगी ही और अगर अनतानुबंधी के रूप में ही वह उदय में आ जायेगी तो सम्यग्दर्शन

बिगड़ जायेगा, अतः यह पूजन इत्यादि सारे-के-सारे, अंदर से कर्मों को निकालने के ही उपक्रम हैं; इसलिये सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने आकर अगर एक घंटे कम-से-कम पूजन करता है तो उतने समय के लिये अनंतानुबंधी की निर्जरा होती है। जिस व्यक्ति को निर्जरा तत्त्व के प्रति बहुमान है वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होकर घर में नहीं बैठेगा और पूजन की बेला को नहीं टालेगा। और यदि टालता है तो वह सम्यग्दर्शन का पोषक नहीं है, यह कहना चाहिये। हाँ, यह ठीक है कि सम्यग्दृष्टि अनेक प्रकार के होते हैं जिस प्रकार से आप लोग अष्ट मंगल द्रव्य लेकर जाते हैं उसी प्रकार मैं भी ढूंढ़ने लग जाऊँ तो मेरी कमी तो अवश्य है इसमें कोई संदेह नहीं लेकिन मुझे भी पूजन करना पडता है और मेरी पूजन आप से भी अच्छी कोटि की है यह भी ध्यान रक्खो; क्योंकि भावों से भी पूजन होती है। महाराज! अपने को वह ही पूजन बता दो ताकि द्रव्य न लगे और भाव पूजन हो जाये और निर्जरा भी हो जाये। ऐसा नही है आप निर्जरा करना चाहते है और द्रव्य नहीं लगाना चाहते इसका अर्थ यह हो गया कि आपको द्रव्य के प्रति मोह है और मोह है तो वहाँ पर बंध होगा, निर्जरा नहीं होगी। भगवान् के सामने पूजन करने का अर्थ यही है कि विषय सामग्री का विमोचन--निर्जरा तत्त्व का आह्वानन। विषय सामग्री चढाई जा रही है, भगवान् को दी नही जा रही है, ध्यान रक्खो। हमारे भगवान् माँगते नही, इसलिये कजूसी मत करो, भगवान लेते तो है ही नही, लेते नही है पर आपके पास जितना है उसे छुडा देते है। आप तीर्थ-स्थल पर बैठे है तो यह छोडने के भाव जागृत हो सकते हैं। घर में रहकर यह भाव जागृत नही होगा। जब खाना खायेगे तो ऐसा कहेंगे, पाटा बिछा दो, पखा लगा दो, ऊपर नही है तो हाथ से ही पखा कर दो, थाली रक्खो अच्छी चाँदी की, यह गिलास रक्खो, यह लोटा रक्खो पानी भर कर, पर यहाँ आप लोग खाना खाते है, कैसे खाते हैं? यहाँ कोई पाटा नही है, थाली नही है, यूं ही यहाँ बैठे-बैठे कैसे भी करके खा लेते है, पाँच मिनिट के अंदर सब साफ। यही तो त्याग है नही समझे। तीर्थ पर भगवान् के सामने व्रत करो, बहुत अच्छा है और यही आकर ज्यादा व्यक्ति व्रती बन जाते है यहाँ सारे-के-सारे त्याग सीखने को आते है। प्रत्येक समय त्याग की बात होती है, निर्जरा की बात होती है यहाँ, अमर तत्त्व की बात होती है यहाँ, मोक्षमार्ग चल

रहा है। संसारी और गृहस्थ चौबीसों घंटा राग और द्वेष में, विषय और कषायों में धर्म ध्यान को छोड़कर लगे हुए हैं, परंतु इन षट् आवश्यकों के माध्यम से कम-से-कम वीतराग प्रतिमा के सामने पूजन का सौभाग्य तो मिल जाता है। इस प्रकार वह निर्जरा करता है और अनंतानुबंधी की लड़ियाँ-की-लड़ियाँ निकल रही हैं इसको कहते हैं अविपाकी निर्जरा, जो तप के माध्यम से हो रही है और यह बिना पूजन के नहीं हो सकती, बिना आवश्यकों के नहीं हो सकती। इसके लिये कोई-न-कोई आवश्यक तो करना ही होगा तभी धक्का लगेगा--अनंतानुबंधी को। उसका अकाल में उदय आने पर भी वह अपना फल नही दे सकेगी; क्योंकि वह भगवान् के सामने, वीतराग भावों का चितन उनकी पूजन कर रहा है। इसलिये पूजन धर्म आवश्यक है, जो साधक है उसे अपने अनुकूल करना चाहिये। आपको अष्टमंगल द्रव्य की पूजन का विधान है तो हम लोगो (मुनियों) को अष्ट मगल द्रव्य तो है नही लेकिन आठ सौ मंगल अपने पास भी हैं, भावना मे कोई कमी नही है। हम जिस समय भी भगवान् की पूजन करते है उस समय आप से असंख्यात-असंख्यात गुणी कर्म की निर्जरा हम कर लेते है।

केवल आत्म तत्त्व के माध्यम से ही निर्जरा होती हो ऐसी बात नहीं है और किसने कहा है कि निर्जरा तत्त्व के लिये आत्म तत्त्व की आवश्यकता है ? यदि ऐसा ही हो तो बताये देता हूँ मिथ्यात्व के उदय मे भी निर्जरा होती है। मिथ्यात्व का उदय बाद मे समाप्त होता है और अनतानुबंधी पहले समाप्त हो जाती है; अत वहाँ भी निर्जरा होती है इस प्रकार की निर्जरा की हम बात नही कर रहे है। सजग होकर ज्ञान के साथ जो निर्जरा की जाती है और पूजन आदि षट् आवश्यकों के माध्यम से वह जितनी-जितनी बढ़े, उतने-उतने अंशों में वह निराकुल बनता चला जाता है और इन्हीं षट् आवश्यकों के माध्यम से वह निराकुल बनने का उपक्रम प्राप्त कर लेता है और आप कहते है कि सम्यग्दृष्टि कोई हो तो उस समय निर्जरा तो होती ही रहती है फिर क्या आवश्यकता, ऐसा नही है, यदि विशेष निर्जरा करता है इन आवश्यको के माध्यम से, तो वह विशेष आगे बढ़ जाता है।

गृहस्थ होकर भी जितना अधिक आपका धार्मिक क्षेत्र में समय खर्च होगा उतनी ही आपकी सत्ता में जो अनंतानुबंधी है वह सारी-की-सारी संक्रमित होकर बिना फल दिये ही चली जायेगी, क्योंकि सम्यग्दर्शन को मेटने वाला अनंतानुबंधी है और अब उदय में आ जायेगा तो सम्यग्दर्शन बिल्कुल मिट जायेगा; लेकिन अब यदि आप सजग हो करके देव-गुरु-शास्त्र की पूजन और उनकी उपासना, उनकी आराधना, उनका चितवन करते रहते हैं तो उस समय वे सारे-के-सारे कर्म खिरते चले जाते हैं। इसी प्रकार मिथ्यात्व भी जो आपके सत्ता में है और मान लो इस समय आपके सम्यक्त्व प्रकृति का उदय चल रहा है तो उसी समय सत्ता में स्थित जो मिथ्यात्व प्रकृति है वह सारी-की-सारी उदयावली में आकर सम्यक्त्व प्रकृति के रूप में फल देकर चली जाती है यह भी उस मिथ्यात्व प्रकृति की निर्जरा कहलाती है। तो जिस समय वह इन आवश्यकों में व्यस्त हो जाता है उस समय ये उदीरणा के रूप में और अविपाकी निर्जरा के रूप में फल देकर चली जाती है। जिस प्रकार आप लोग आठ घंटे की ड्यूटी तो दे ही देते हैं और उस समय आपका वेतन तो बधा ही है वह तो छूटता नहीं है कभी। उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि के उसकी निर्जरा तो कभी रुकती नही है। अब यदि वह ड्यूटी देने वाला व्यक्ति ओवर ड्यूटी कर लेता है तो उसका कुछ-न-कुछ तो उसे मिलता ही है कि नही। जितना चाहो उतना मिलता है; क्योंकि वहाँ कौन देखता है काम करो या न करो, लेकिन मिल ही जाता है। वहाँ केवल ओवर ड्यूटी करने वाला ही रहता है न। विश्वस्त होकर काम करो सोकर भी करोगे तो भी आपको वेतन (पेमेन्ट) मिलेगा ही। उसी प्रकार भगवान् के सामने जाकर के वह सो भी जाता है कोई बात नही वह सम्यग्दर्शन के साथ है यह एक विशेषता है। आप भी सब यही आ जाओ अच्छा मौका है।

एक व्यक्ति पसीना-पसीना हो रहा था, मैंने पूछा भैया ऐसे इतना काम क्यो करते हो, समय पर किया करो। क्या करूँ महाराज! आप तो जानते ही है घर की बात और कुछ नही लडकी के दहेज के लिये बीस हजार चाहिये और वह बिल्कुल बडी हो गयी है, इसलिये अब जो है तीन साल के अदर-अंदर ओवर ड्यूटी करके कमा रहा हूँ। अब सोचो दो-

तीन साल के अंदर इस प्रकार करके वह कमा सकता है तो तप के माध्यम से, आवश्यकों के माध्यम से हम भी निर्जरा तत्त्व को बढ़ा सकते हैं, अंदर के कचरे को घटा सकते हैं। अकाल में ही इस प्रकार आवश्यकों के माध्यम से निर्जरा तत्त्व का सम्पादन हो सकता है। काल पाकर समय-समय पर सविपाकी निर्जरा हो रही है उनकी, और नया बंध हो ही नहीं रहा और इसके साथ-साथ इस प्रकार की विशेष प्रक्रिया भी हो सकती है आवश्यक के माध्यम से; अतः पूजन करना यह परम आवश्यक है, पूजन करने के माध्यम से ही बंध होता हो ऐसा नहीं है; क्योंकि बंध की प्रक्रिया न तो पूजन के समय पूर्णतः रुकी और न ही विषय-भोगों के समय रुकी है, बल्कि जिस समय पूजन करते हैं उस समय पाप बंधों की निर्जरा हो जाती है उनका बंध होना रुक जाता है और शुभ बंध होना प्रारंभ हो जाता है। अतः यह कहना कि पूजन करना केवल बंध तत्त्व का कारण है यह इस तत्त्व को नहीं समझना है। साथ-ही-साथ यह पाप का समर्थन करना है; क्योंकि वह मुनि तो बन नहीं रहा है।

अष्ट द्रव्य का पूजन पाप का कारण है ऐसा उपदेश उन व्यक्तियों के सामने सुनाना चाहिये जो मुनि बनने के लिये तैयार हैं। जो पूजन नहीं करना चाहते हैं तो ऊपर उठ जाओ फिर भाव पूजन करो, बैठे-बैठे करो आपको कोई नहीं कहेगा, मंदिर जाने की भी आवश्यकता नहीं। हाँ, लेकिन मंदिर जाने की आवश्यकता नहीं है तो घर जाने की भी आवश्यकता नहीं है यह भी बात है, ध्यान रखो।

आप चाहते हैं मंदिर जाना भी छूट जाये और घर में बैठे रहें और निर्जरा भी मिल जाये तो कैसे निर्जरा मिल जाये? वहाँ तो 'जरा' ही मिलेगी, बुढ़ापा मिलेगा। अतः इन सभी विवक्षाओं में देखने, सोचने, विचारने की बड़ी आवश्यकता है। नन्हें-नन्हें बच्चों के सामने यदि आप पूजा को बंध का कारण बता दोगे तो तीन काल में कभी उनको और न आपको समझ में आयेगा कि बंध तत्त्व क्या है, आस्रव तत्त्व क्या है, निर्जरा तत्त्व क्या है, मोक्ष क्या है और जीव तत्त्व क्या है। सारा-का-सारा आप अभी समझे नहीं, कुछ किया भी नहीं और इस प्रकार उपदेश देना यह एक प्रकार से ऐसा है, यूँ कहना चाहिये कि वह डाक्टर है जो कि रोगी को दवाई देता है निदान भी बिल्कुल ठीक किया है लेकिन कल्प का ध्यान

नहीं रखता है तो वह रोगी को मार डालेगा। एक माह का बच्चा है और वह बीमार होता है तब उसको क्या पिलाना होगा ? वह डाक्टर औषधि देगा उस रोग को रोकने की, लेकिन कौन-सी देना और कितनी मात्रा में देना यह भी ध्यान रखना चाहिये। पहलवान तो वह बालक है नहीं और यदि पहलवान को जिस प्रकार दवा का कल्प बताता है उसी प्रकार उस बालक को भी देता है तो उसको मार देता है। वह उसके लिये विष रूप हो जाती है। तो इसी प्रकार जो अभी पूजन कर ही नही रहे हैं और उनके सामने पूजन बंध का कारण है यह बता दिया जाये तो मोक्ष-मार्ग से भी विचलित हो जायेगा वह। मिथ्यादर्शन का पोषक बन जायेगा; अतः सारी-की-सारी बातों का ध्यान रखना चाहिये, ऊपर बढ़ाने की यह सारी प्रक्रिया है। निचली बात यदि छुड़ाना चाहते है तो धीरे-धीरे ऊपर की बात उसको उपादेय के रूप मे पहले बता दो। यदि आप द्रव्य पूजन का निषेध करना चाहते है तो कम-से-कम आरभ से ही ऊपर उठ जाओ, निरारंभी बन जाओ, आठवी प्रतिमा ले लो तो द्रव्य पूजन करने की कोई आवश्यकता नही रहेगी।

संसार के तो अनेक पाप के कार्य करना और भगवान् की पूजन को बंध बताना और भोग को निर्जरा का कारण बताना यह सारा-का-सारा जैन सिद्धान्त का अपलाप है। विवक्षा समझना चाहिये। यह तो अपने तरफ से इस मार्ग को अप्रशस्त करना है, जो ऊपर उठने वाले हैं उनको नीचे धकेलना है। सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है; लेकिन ध्यान रखना भोग कभी निर्जरा का कारण हो नहीं सकता। यदि भोग निर्जरा का कारण हो जाये तो योग क्या बंध का कारण होगा ? सोचना चाहिये, कौन से शब्दों का अर्थ कहाँ क्या लिखा गया है, क्या आया है, किस व्यक्ति के लिये लिखा गया है। कुछ भी याद नहीं, आगम का कुछ भी भय नहीं, कोई विवेक नहीं और बढ़ रहे हैं साहब। बड़ा कठिन है भैया !

सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है—ऐसा कथन आया है, मैं भी जानता हूँ और सभी जानते है; मेरे से भी ज्यादा आप लोग जानते होंगे। मै उसको मना नही कर रहा हूँ; किन्तु वह किस व्यक्ति के लिये लिखा गया है यह भी तो ध्यान रखना चाहिये। वह कौन-सा पहलवान है,

बलवान् है, जिसके लिये भोग भी निर्जरा के लिये कारण बन सकता है, वह कौन-सा बलवान है जो भोग को भी निर्जरा का कारण बनाता है। जठराग्नि चाहिये, खाना हजम हो जायेगा। जठराग्नि इतनी तेज हो जाये कि एक-एक किलो घी पी लें साफ हो जायेगा पर जिसकी जठराग्नि तीव्र नहीं है और वह ऐसा करेगा तो वह ही साफ हो जायेगा; यह भी ध्यान रक्खो। तो किसको पिला रहे हो, क्या पिला रहे हो, यह भी देखो। शक्ति उन पदार्थों में नहीं उस व्यक्ति की जठराग्नि में है। तो इसी प्रकार जो व्यक्ति बिल्कुल निर्विकार वीतराग सम्यग्दृष्टि बन चुका है और जिस व्यक्ति की दृष्टि तत्त्व तक पहुँच गयी है उसके सामने वह भोग-सामग्री, भोग-सामग्री है ही नहीं, उसके सामने तो वह पदार्थ जड़ तत्त्व पड़ा है। उस व्यक्ति के लिये कहा है कि तू कहीं भी चला जाये तेरे लिये संसार निर्जरा का कारण बन जायेगा। मैं आपसे पूछना चाहता हूं क्या मूर्ति निर्जरा का कारण है ? हाँ, भगवान् की मूर्ति, वीतराग प्रभु की मूर्ति निर्जरा के लिये कारण है और संवर तत्त्व के लिये भी कारण है; परंतु सिनेमाघर में जाकर एक महिला का पुतला देखो तो क्या वहाँ निर्जरा होगी ? नही। आप अपने को भूल जायेंगे, तो क्या समाधि हो जायेगी; नही । आपकी समाप्ति हो जायेगी भैया ! हाँ ऐसी स्थिति है। इन व्यसनों मे पडकर भगवान् को तो भूल ही गये लेकिन साथ-ही-साथ अपने-आप को भी भूल गये। दोनो में बडा अतर है, एक तो ससार मार्ग है और एक मुक्ति का मार्ग है आपके लिये। मेरे लिये इनसे ही बढकर है मुक्ति का मार्ग अर्थात् उस महिला के पुतले को यदि निर्विकार दृष्टि से, वीतराग दृष्टि से, वीतराग सम्यग्दृष्टि देखता है, तो भगवान् के दर्शन से और उस पुतले को देखने, इन दोनों से ही उसके लिये निर्जरा होगी, लेकिन मुझे होगी आपको नही होगी, यह ध्यान रखना।

सारे तत्त्व, पात्र को लेकर के देखकर बताये जाते हैं; अर्थ यही है कि भोग निर्जरा का कारण इन संसारी व्यक्तियों के लिये, सामान्य व्यक्तियों के लिये नहीं है; लेकिन इसकी चर्चा या कथन मात्र हम कर सकते हैं। देखो भैया ! हमारे लिये अभी वह दृष्टि प्राप्त नहीं हो पा रही है, जो पदार्थ आते है उनमें हेय और उपादेय की दृष्टि हो जाती है; किन्तु वह ज्ञेय बनना चाहिये परंतु हमारी दृष्टि कहाँ स्खलित हो रही है इस

प्रकार विचार करने के लिये तो ग्रंथ का अध्ययन, मनन करना, पढ़ना तो ठीक ही है; लेकिन उसके रहस्य तक पहुँचे बिना कुछ भी कह देना ठीक नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ की कीमत अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने क्षेत्र मे हुआ करती है। जौहरी की दुकान पर आप चले जायेंगे तो वह आपको बिठा लेगा, आपका मान सम्मान होगा, सब कुछ होगा लेकिन वह जौहरी आपको उठाकर अपने नग जल्दी-जल्दी उतावलेपन से नहीं देगा। जैसे चने वाला अपने चने दिखा देता है क्या उसी प्रकार वह मोती, हीरा, जवाहरात भी दिखा दे? कभी नहीं दिखाता, वह उस ग्राहक को परखता है फिर ग्राहक के सामने जवाहरात की जो कीमत है उसे बताता है कि ये बहुत कीमती चीजें है और फिर एक-एक करके ट्रेजरी वह खोलता चला जाता है, खोलता चला जाता है उसी के अंदर दूसरी ट्रेजरी फिर तीसरी ट्रेजरी और उसके अंदर एक छोटी-सी संदूक और उस संदूक में भी और छोटी-सी डिबिया और उस डिबिया मे भी मखमल और उस मखमल में भी एक पुड़िया और उस पुड़िया के अंदर और पुड़िया। इस प्रकार करते-करते वह हीरा तो बहुत अंदर रहता है और उसको भी ऐसे ही हाथ में नही देता, ऐसे दूर से दिखाता है और उसमें से उस मखमल को हटाता नही है, उस मखमल के ऊपर ही लटकता रहता है वह नग। उसी के ऊपर उसकी शोभा है, हाथ के ऊपर उसकी कीमत नहीं है। तो इसी प्रकार ग्रंथराज समयसार में इस निर्जरा तत्त्व की कीमत जो है ऐसी ही है ऐसे ही लटकाया है ग्रंथराज समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने, हाथ नहीं लगाने दिया, वे ही हाथ लगा सकते हैं जो मुनि हैं, मुनि बन जाओ फिर लगाओ हाथ। वे ही इसकी सही कीमत कर सकते हैं, वे ही इसका पाचन कर सकते हैं। यह कोई मजाक थोड़े ही है। जीवन समर्पित किया जाता है उस समय यह निर्जरा तत्त्व आता है। विषय-भोगों को लात मार दी जाती है, ठुकरा दिया जाता है तब यह हीरा यहाँ गले में लटकता है। ऐसे थोडे ही है भैया, बड़ी कीमती चीज है, उस कीमती चीज को आप किसी के हाथ में यूँ ही दे दो तो उसका मूल्यांकन वह नहीं कर पायेगा। जो भूखा है, प्यासा है, वह कहेगा यह कोई चमकीली चीज है इसको ले लो और मुझे तो मुट्ठी भर चना दे दो।

ऐसे ही कह देगा वह। और आज यही हो रहा है। उस निर्जरा तत्त्व की बात कर रहे हो और उसके साथ भोग की बात कह रहे हो। भोग की बात करना उसके लिये अभिशाप है वहाँ भोग करना तो बहुत दूर की बात है; कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं तुम्हारी दृष्टि में भोग आ रहे हैं अभी तक। तूने नही पहचाना है इस तत्त्व को। एकमात्र अपने आत्मा में रम जा तू वही मात्र निर्जरा तत्त्व है, एक मात्र आत्मा में घुसता चला जा तू, गहरे उतरता चला जा तू, यही निर्जरा तत्त्व है। तेरी ज्ञानधारा यदि लटकती है, अटकती है उस ज्ञेय तत्त्व में तो ध्यान रखना तेरा निर्जरा तत्त्व टूट गया, वह हार, वह माला जो है बिखर गयी। इसी प्रकार का वह मौक्तिक और उसको हम कहाँ-कैसे लगा रहे है सोचो।

इसी तरह इस निर्जरा तत्त्व के उपरान्त और कोई पुरुषार्थ नहीं रह जाता है। मोक्ष तत्त्व अन्तिम नही है वह तो फल है। मोक्ष; मार्ग नहीं है, मार्ग जो कोई भी है वह सवर और निर्जरा है और मार्ग में यदि आप लोगो की स्थिति स्खलित हो गयी, विपरीत परिणमन हो गया तो ध्यान रखना वहाँ मोक्ष नही मिलेगा, किन्तु मोह मिलेगा, मोह और–

मोह महामद पियो अनादि।
भूल आपको भरमत वादि॥

महावीर भगवान् की जय!

मोक्ष-तत्त्व

ओम् नमः सिद्धेभ्यः !

कल चतुर्दशी थी और प्रतिक्रमण का दिवस था। वह "प्रतिक्रमण आवश्यक" उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सामायिक आवश्यक है और दूसरी बात यह भी है कि प्रत्येक आवश्यक में कुछ अलग विषय रखे गये है; किन्तु प्रतिक्रमण आवश्यक में बहुत-बहुत गहरी बात है। संसारी प्राणी अनादिकाल से आक्रमण करने की आदत को लिये हुए जीवन जी रहा है; परन्तु मोक्षपथ का पथिक आक्रमण को हेय समझकर प्रतिक्रमण को जीवन में जीने का एक उपाय समझता है।

आक्रमण—यह शब्द, अपने आप में बता रहा है बाहर की ओर यात्रा, और **प्रतिक्रमण**—यह बता रहा है अंदर की ओर यात्रा, अपने-आप की उपलब्धि। कितना अतर हो गया! संसार और मोक्ष के बीच! आक्रमण संसार है तो प्रतिक्रमण मुक्ति है। आप मे से कोई तैयार है प्रतिक्रमण के लिये। मुक्ति तो चाहिये हमें, पर प्रतिक्रमण की बात जँचती नही है।

'कृत दोषं निराकरण प्रतिक्रमणं!'

किये हुए दोषों का मन-वचन-काय से, कृत-कारित अनुमोदना से विमोचन करना—यह प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है और इस अर्थ की ओर दौड लगाता है वही पथिक, जो मुक्ति की वास्तविक इच्छा रखता है। अपने आत्मा की उपलब्धि ही मुक्ति है और प्रतिक्रमण का अर्थ भी है अपने आप मे मुक्ति। किससे मुक्ति? दोषों से मुक्ति! इसका अर्थ यह हो गया कि ससारी प्राणी दोष करता है, किन्तु दोषी नही हूँ यह सिद्ध करने के लिये निरतर आक्रमण करता जाता है दूसरो के ऊपर। एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिये हजार असत्यों का आलंबन और लेता है।

मुक्ति का अर्थ तो यह ही है कि दोषों से अपनी आत्मा को मुक्त बनाना। 'मुञ्च्' धातु से इस मुक्ति शब्द अथवा मोक्ष शब्द का निर्माण हुआ है। 'मुञ्च् विमोचने त्यागे वा।' मुञ्च् धातु विमोचन के अर्थ में आयी है। कोई ग्रथ लिखे, उस ग्रंथ का आप विमोचन करें या और अन्य कोई

विमोचन कर लें परतु अपने दोषों का बिमोचन करने का कोई प्रयास ही नहीं करता। बिमोचन वही करता है जो व्यक्ति मुक्ति चाहता है। यह मुञ्च्--छोड़ने के अर्थ में आया है छूटने के अर्थ में नही। छूटता है तो धर्म छूट जाता है और छोड़ा जाता है तो पाप। तो अनादि काल से धर्म छूटा है और छोडा जायेगा अब पाप।

प्रत्येक संसारी प्राणी अपने दोषों को मंजूर नही करता। वह उन दोषो का निवारण करने का प्रयास नही करता, किन्तु मोक्षमार्ग का पथिक वही है इस ससार में, जो अपने दोषों को छोड़ने के लिये, दंड स्वयं अपने हाथ से लेने के लिये हर क्षण तैयार है। संसार में मुनि ही अपने-आप में वास्तविक प्रतिक्रमण करता है। मन से, वचन से और काय से जो कोई भी ज्ञात-अज्ञात में, प्रमाद के वशीभूत होकर दोष या इस प्रकार की भावना हो गयी हो, वचन निकल गये हों तो उसको दड के रूप में स्वीकार करता है वह मुनि। तो 'पनिशमेंट डे' कल जो था, वह दड लेने का दिन था। प्रतिक्रमण का दिवस था। संसारी प्राणी दूसरे को दंड देना चाहता है, पर अपने-आप दडित नही होना चाहता, और मुनि ही एक ऐसा संसारी प्राणी होते हुए भी जीव है जो दूसरे को दड नही देना चाहता है और वह खुद प्रत्येक प्राणी के पास वह सुने या न सुने अपनी पुकार पहुँचा देता है। एक इद्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जितने भी जीव हैं, उनके प्रति मै क्षमा धारण करता हूँ, मै क्षमा करता हूँ और मेरे द्वारा, मन से, वचन से, काय से, कृत से, कारित से और अनुमोदना से, किसी भी प्रकार से, आप लोगो के प्रति दुष्परिणाम हो गये हों तो मै उनके लिये क्षमा चाहता हूँ और क्षमा करता हूँ। ये भाव प्रतिक्रमण के भाव है, पर हम आक्रामक बने है और आक्रामक जो है वह क्रोधी होता है, मानी होता है, मायावी होता है, लोभी होता है, रागी होता है, द्वेषी होता है, परतु प्रतिक्रमणी इसका विलोम होता है । वह रागी नही होगा, वह मानी नही होगा। वह मान के ऊपर भी मान करेगा और मै तेरे से बड़ा हूँ तुझे निकाल ही दूंगा ऐसा कहने वाला है। मान का अपमान करने वाला यदि कोई संसार में है तो वह मुनि है। लोभ को भी प्रलोभन देने वाला यदि कोई है तो वह मुनि है। 'क्रोध' को भी, यदि गुस्सा दिलाने वाला है तो वह मुनि है। क्रोध को भी

गुस्सा दिला दे अर्थात् क्रोध उदय में आ जाये तो भी वह (मुनि) खुद शान्त बना रहता है और क्रोध जलता रहे, जलता रहे, जलता रहे। उसके लिये ईंधन ही नहीं मिलेगा तो वह अग्नि भी नहीं जलेगी। बल्कि शान्त हो जाती है। इस प्रकार दशलक्षण धर्म के माध्यम से सारी-की-सारी कषायों को वह शान्त बना देता है। वास्तविक क्रोधी मुनि है जो क्रोध के ऊपर भी क्रोध करता है, वास्तविक मानी मुनि है जो मान को भगा देता है, वास्तविक मायावी वही है जो माया को भी अपनी चपेट में ले लेता है और माया अपनी वक्रता का प्रभाव नही दिखा पाती। लोभ को भी वह प्रलोभन देकर अपना काम निकाल लेता है। इस प्रकार वह प्रतिक्रमण करने वाला, यदि देखा जाये तो बडा काम कर रहा है। इस प्रतिक्रमण को वह गुपचुप-चुपचाप करता रहता है, उसकी भावना अहर्निश चलती रहती है।

अब मुक्ति के बारे मे कहने की आवश्यकता ही क्या है? आप मे से कौन-कौन प्रतिक्रमण के लिये तैयार होते हो। दड देने के लिये तो शीघ्र तैयार हो जायेगे आप, परतु कोई प्रतिक्रमण के लिये तैयार नही होता। आत्मा को निर्दोष बनाने की इच्छा किसकी है? जितना-जितना आत्मा को निर्दोष बना लेगे उतनी-उतनी ही तो है मुक्ति। निर्जरा के व्याख्यान के समय मैंने कहा भी था—मोक्ष तो फल और निर्जरा साधना है। और साधना का अर्थ यही है कि एक देश, आत्मप्रदेशो से, दोषो का निवारण होना। यही निर्जरा है। और पूर्णरूपेण अभाव को प्राप्त होना—यह मोक्ष है।

कल मुक्ति पर व्याख्यान नही हुआ तो कोई बात नही। मुक्ति तो कल ही नही, परसो भी हुई और आज भी सभव है, यदि हम प्रतिक्रमण के लिये तैयार हो जाये तो। दोषो से शुद्ध बनाओ अपने-आपको और दोषो को निकाल दो अपने हाथों से।

माँ परोस रही है एक थाली मे विभिन्न-विभिन्न व्यजन और लाड़ला लडका बैठा-बैठा खा रहा है। खाते-खाते जब वह बीच में रुक जाता है तब माँ पूछती है कि बेटा! क्या बात हो गयी। घी और चाहिये क्या? पानी लाऊँ क्या? नही! और क्या चाहिये! कुछ भी नही माँ! बोलूँ

कैस—वह कहता है। क्यों ? क्या बात हो गयी ? क्या खट्टा-मीठा, कड़वा कुछ हो गया ? वह माँ पूछती है। कुछ नहीं है माँ ! एक बात पूछना चाहता हूँ—वह लड़का कहता है। आप रसोई बनाना छोड़ दें तो अच्छा है ? क्यों क्या बात हो गयी बेटा ! कुछ नहीं माँ ! मेरे अनुमान से आपकी नेत्रेन्द्रिय कुछ कमजोर हो गयी है। क्या कहा, नेत्रेन्द्रिय कमजोर हो गयी है ? नहीं बेटा ! बहुत सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भी हो तो भी देख सकती हूँ—ऐसा माँ ने कहा। नही माँ ! अभी-अभी खा रहा था कि बस ! कट्ट—ऐसी आवाज आ गई है। यह कट्ट क्या होता है माँ ! वह लड़का पूछता है। देख लो बेटा ! सारा-का-सारा मुँह से बाहर निकाल कर। निकालने के उपरान्त उसमें और कुछ भी नही मिला कंकड इत्यादि। तब वह पुन कहता है कि कंकड तो है ही नही इसमे माँ। और कंकड नही है तो कट्ट करने वाला कौन ? वह माँ सोचती है कि क्या बात हो गयी। फिर बाद में उसे एक मूँग मिलता है मूँग। यह मूँग ही है बेटा ! यह कंकड नही है। हाँ माँ ! यह कंकड नही है तो कंकड का बाप जरूर है, मेरा तो खाना ही रुक गया और अभी भी दर्द हो रहा है। माँ कहती है बेटा ! यह मूँग ही ऐसा है। माँ ! यह खिचडी तो इतनी स्वादिष्ट बनी है कि एक बार मे सारी-की-सारी साफ कर दूँ, छूटे नही बिल्कुल भी परन्तु इस मूँग ने तो मुझे रोक दिया। यह मूँग किस जाति की होती है माँ ! ऐसी ही है बेटा ! इसका नाम है छोडूँ या टर्रा—माँ कहती है। अच्छा माँ ! यह टर्रा छोडूँ मूँग को क्या पहचान है ? यह पहचान तो खाते समय ही होती है बेटा ! जब दाँत एकाध टूट जाये तभी इसकी पहचान है। यह हरा-हरा मूँग जैसा होता है, इसका मापदंड भी उतना ही रहता है और यह सेर-भर मूँग में सेर-भर ही होते हो ऐसा भी नही है, एकाध होता है, बेटा ! माँ कहती है। अच्छा ! बेटा बहुत चालाक था। हाँ, तो यह बात है माँ ! क्या यह सीझता (पकता) नही है माँ। यह कभी नही सीझता बेटा ! और जो सीझता है उसमे भी रोडे अटकाता है। जिस समय यह किसी खाद्य के साथ खाया जायेगा, उस समय उन खाद्यो को मुख से निकालना पडेगा। न खुद पकता है न दूसरे को ही पकने देता है। अगर पक भी जाये तो वह अदर नही जाने देता है। हाँ माँ ! बिल्कुल ठीक है। महाराज जी ने अपने को ऐसा ही तो कहा था, एक उदाहरण दिया था। उन्होने कहा था कि ऐसे भी जीव होते है जो न खुद ही सीझते है और न ही दूसरों को सीझने देते है। अब बोलो क्या कहना चाहोगे आप।

लोग। आज तक जो हम टर्री की कोटि में आ रहे हैं यह ध्यान रक्खो। हमारा जीवन, दूसरे के लिये, जो मुक्ति पाने के लिये आगे बढ़ रहे है, उनके लिये साधक तो कम-से-कम बनें ही, बाधक नही।

बंधुओ! अनादिकाल से यह संसारी प्राणी इस संसार में रचता-पचता आ रहा है। जो 'बिगनिंगलेस' रहा है जिसका कोई भी छोर नही है आदि नही है और एक्सट्रिमिटी नही है, अंत भी नही है। यह संसार अनादि-अनत है। इसमे भटकते-भटकते हम आ रहे हैं। तात्कालिक पर्याय के प्रति जो आस्था है उसको भूलना होगा और त्रैकालिक जो तब से आ रहा है उस पर्याय को धारण करने वाला द्रव्य, मै, आत्मा कौन हूँ? इसके बारे में चिंतन करना होगा। प्राय.कर हमारे आचार्यों ने इसीलिये पर्याय को क्षणिक कहा है और उस पर्याय की क्षण-भंगुरता, निस्सारता के बारे मे उल्लेख किया है। यद्यपि सारी-की-सारी पर्यायें निस्सार ही होती हों, ऐसा नही है, किन्तु संसारी प्राणी को मोक्षमार्ग पर चलने के लिये पर्याय की हेयता बताना अति आवश्यक है। इसके बिना उसकी आस्था उस पर्याय से हटकर त्रैकालिक जो द्रव्य है उस के प्रति नही उठ सकती और उसकी दृष्टि जब तक उस अजर-अमर द्रव्य के प्रति नही जायेगी, तब तक ये ध्यान रखियेगा, उसका संसार में रचना-पचना छूटेगा नही।

एक बार महाराज जी (आचार्य गुरुवर ज्ञानसागर जी महाराज) के सामने चर्चा की थी कि महाराज! जिसने यहाँ मुनिदीक्षा धारण की है और मुनिदीक्षा धारण करने के उपरान्त भी वर्षों तक तप किया है, ध्यान किया है और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के नाते वे स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि देव बन जाते है जो पुन: वापिस आकर यहाँ बार-बार संबोधन वगैरह क्यो नही देते? तो महाराज जी बोले—सुनो! ससारी प्राणी की स्थिति यह है कि क्षेत्र का प्रभाव उसके ऊपर ऐसा पड जाता है कि उस चकाचौंध में वह जब फँस जाता है तो अतीत में बहुत ही अच्छा कार्य क्यों न किया हो, उस कार्य को वह भूल जाता है और जीवन के आदि से लेकर अंतिम समय तक यूँ कहना चाहिये, वह उन्ही भोगों में व्यस्त हो जाता है।

अन्य गतियों में तो सारे-के-सारे जीव व्यस्त हो जाते हैं, किन्तु मनुष्य गति ही एक ऐसी गति है जिसमें व्यस्तता नही पाई जाती। यूँ कहना चाहिये कि व्यस्तता बनाई भी जा सकती है और व्यस्तता को कुछ धक्का भी लगाया जा सकता है। मनुष्य-जीवन में ही इस प्रकार का विवेक जागृत रहता है। वह विवेक एक छोटे से बच्चे में भी पाया गया। वह माँ से पूछता है। माँ ! यदि वह टर्रा मूँग नही सीझता तो उसका ऐसा स्वभाव क्यों ? अन्य मूँग तो सीझ गये माँ ! और ये मूँग नही सीझते। तो कुछ बीज ही ऐसे बोये जाते है क्या ? नहीं बेटे ! माँ कहती है कि बोये तो अच्छे ही जाते हैं क्योंकि एक बीज के माध्यम से एक बाल आ सकती है और उस बाल में हजारों मूँग आ सकते हैं जिनमें एकाध टर्रा मूँग भी हो सकता है। इसका अर्थ यह नही है कि कोई टर्रा के माध्यम से ही टर्रा मूँग उत्पन्न हो जाये किन्तु एक सही बीज के माध्यम से भी इस प्रकार की योनि का निर्माण हो जाता है और उस एक ही बाल में अनेक मूँग के साथ, एक मूँग ऐसा भी हो जाता है जो सीझता नहीं है। क्षेत्र का प्रभाव पड़े यह नियम नही, काल का प्रभाव पडे यह नियम नही, द्रव्य का प्रभाव पडे यह भी नियम नही है किंतु वह स्वभाव के ऊपर निर्भर (डिपेण्ड) है। उसका स्वभाव ही ऐसा है।

कुछ ऐसे भी जीव हैं जिनका स्वभाव ही ऐसा है कि वे न आज तक सीझे हैं और न आगे सीझेंगे। उस टर्रा मूँग को आप पकाना चाहो, सिझाना चाहो, भले ही एक टन ईंधन कोयला उसे पकाने के लिये जला दो पर वह वैसा-का-वैसा ही रह जायेगा। पत्थर सीझ सकता है, किन्तु वह टर्रा मूँग नही सीझेगा। कैसा विचित्र स्वभाव पड गया है उसका। तो हम सब उसमें तो नही है मुझे तो यह विश्वास हो रहा है क्योंकि वह तो बिल्कुल ही खराब हो गया। हमारा हृदय तो इतना कठोर नही है; परन्तु यह भी ध्यान रक्खो आप, टर्रा नही होकर भी कुछ ऐसे हैं मूँग, जो अग्नि का सयोग पाते नही, जल का सयोग पाते नही, इसलिये वह भी टर्रे के समान ही रह जाते हैं, वह भी नही सीझेंगे, उनको कहा है दूरानुदूर भव्य ! और जो टर्रा है वह तो अभव्य है ही। यह भी ध्यान रक्खो जो मूँग बोरी में रखा गया है वह वैसे ही रखा-रखा कभी भी तीन काल में सीझेगा नही। घर में रहते-रहते कोई भी मुक्ति नही मिलेगी। आप लोग चाहते

हैं कि ऐसा कोई उपाय मुझे बता दो महाराज! ताकि वह घर भी छूटे नहीं और यहाँ का माल (मुक्ति) भी ज्यों-त्यों करके मिल जाये। यह तो "न भूतो न भविष्यति' वाली बात है। यद्यपि योग्यता वहाँ उस मूँग में है लेकिन योग्यता होकर भी उस योग्यता का परिस्फुटन, जब तक अग्नि का योग नहीं मिलेगा तब तक होने वाला नहीं है। योग्यता तो है लेकिन वह व्यक्त नहीं होगी ऐसा समझना चाहिये। पकी हुई खिचड़ी तभी बनेगी जब उसे जल और अग्नि का योग मिलेगा, यह ध्यान रक्खो। आप भव्य तो हैं इसमें संदेह नहीं लेकिन जब तक यह बात समझ में नहीं आयेगी तब तक कुछ होने वाला नहीं है।

अभव्य से दूरानुदूर भव्य ज्यादा निकट है और दूरानुदूर भव्य से आसन्न भव्य ज्यादा निकट है उस मुक्ति के; लेकिन भव्य होकर भी अभी तक अपना नम्बर नहीं आया। इसका अर्थ क्या? आसन्न भव्य तो हम अपने आप को कह नहीं सकेंगे और आसन्न भव्य नहीं है। इसका अर्थ क्या है? भव्य तो हो सकते है, लेकिन योग नहीं मिलाया है। अब लोग पूछ लेते है महाराज! ऐसा भी तो आया है कि दूरानुदूर भव्य के लिये योग नहीं मिलेगा देव-गुरु-शास्त्र का। योग मिलेगा या नहीं मिलेगा—ऐसा नहीं भइया! वह मिलायेगा ही नहीं। यह ध्यान रक्खो। योग नहीं मिलेगा। ऐसा नहीं है बल्कि वह मिलायेगा ही नहीं अर्थात् तदनुरूप उसकी वृत्ति जल्दी नहीं होगी। बहुत विचित्र है यह बात। परिणामो की विचित्रता इतनी है कि सीझने की योग्यता होते हुए भी, उसका टाइम है, काल है; इसलिये जिस समय अपने को रुचि हुई है, "शुभस्य शीघ्रं" उसी समय उसे कर लें।

वास्तविक भव्य की परिभाषा मे पूज्यपाद आचार्य ने यही कहा है कि "स्वहितम् उपलिप्सु" अपने हित की इच्छा रखने वाला "प्रत्यासन्न निष्ठ." जल्दी-जल्दी कर रहा है। जिस प्रकार भूखा व्यक्ति अन्न ऐसा सुनते ही मुँह फाड़ लेता है और अन्न पाते ही बस तृप्त। कभी ऐसा अनुभव किया होगा आपने। मैं अपने अनुभव की बात बताता हूँ, उसी से कम्पेयर कर लेना, बाद मे। जब हाईस्कूल जाते थे हम, उस समय की बात है। चार मील पैदल जाना पड़ता था और कीचड का रास्ता था तो वहाँ से छूटने के उपरान्त आते-आते तक तो बस बिल्कुल पेट में कबड्डी का खेल प्रारम्भ

हो जाता था। अब मान लो वहाँ से आवें और खाना परोस दो ऐसा कह दें।

—अभी रसोई तो बनी नहीं है। बन रही है।

—तो रोटी तो बनी है कि नहीं। पूछ लिया।

—हाँ रोटी तो बनी है लेकिन उसके साथ साग-सब्जी भी चाहिये। वह अभी बन रही है।

थोड़ी साग-सब्जी हो तो वह परोस दो और नहीं हो तो कोई बात नहीं है रोटी तो लाओ। साग-सब्जी का नाम ले लेंगे और खा लेंगे उसे। चल जायेगा, ऐसे ही पूरी रोटी उड़ जायेगी।

कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि साग आती ही नहीं और जो पूड़ी आदि परोसी गयी है यूँ ही थोड़ा-थोड़ा करते-करते पूरी खत्म हो जाती है और बाद में साग आ जाती है तो फिर साग-ही-साग खा लेते है और पूड़ी तो पहले ही खा ली।

तीव्र भूख का प्रतीक है यह। जब भूख लगती है तो फिर कैसे भी हो चालू हो ही जाता है खाना। खीर गरम भी हो और भूख लग रही हो। माँ कह भी रही हो कि बेटा! अभी मत खाना गरम है। तो बेटा भी कह देता है परोस क्यों दी सामने, माँ! अब सामने लाकर रख दी है तो हम थोड़ी-थोड़ी-सी चाटेंगे और वह धीरे-धीरे किनारे-किनारे से खाना प्रारंभ कर ही लेता है। इधर फूंक भी रहा है, जल भी रहा है परन्तु खाता जा रहा है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है वह चारित्र लेने के लिये उस व्यक्ति के समान जल भी रहा है तो भी फूंकेगा और खायेगा। यदि चारित्र नहीं लेता है तो तीव्र जिज्ञासा नहीं है यह स्पष्ट हो जाता है। विषयों के प्रति, खाने के प्रति जब इस प्रकार के हम दृश्य देखते हैं तब चारित्र के प्रति नहीं देखेंगे क्या? अवश्य देखेंगे। अंदर से छटा-पटी तो बिल्कुल ऐसी लगी रहती है कि कब चारित्र लूँ। इसलिये कोई मूर्ति सामने आ जाये तो भी उसकी नक़ल अपने-आप करने लग जाये। मुक्ति के मार्ग को ढूंढा जाता है। किस प्रकार मुक्ति प्राप्त करूँ? कहाँ है? किस कोने में है? वह उसको ढूंढ़ता रहता है और कोई उदाहरण स्वरूप (मुनि आदि) मिल जाये तो वह कह देता है कि बस! अब बताने की आवश्कता नहीं है।

"अवाग् विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं"—मोक्षमार्ग है, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

मै देख रहा हूँ कि आप लोग कहते है कि महाराज! उपदेश दो, चलो। अलग से क्या उपदेश दें भइया! दिन-रात उपदेश चल रहा है: जिस दिन मुनि-मुद्रा धारण कर ली उसी दिन से उपदेश चालू हो गया क्योंकि कोई भी ऐसा समय नही जाता जिस समय आप लोगो को उस वीतरागता का दर्शन न होता हो, दया का दृश्य देखने मे न आता हो। इसके लिये तो उपदेश सुनने वाला और समझने वाला होना चाहिये। देखो ये किस प्रकार क्रियायें कर रहे है, इसका क्या अर्थ है? थोडा विचार तो कर सकते हैं आप। हम तो बैठ कर खाते है और ये (मुनि) खड़े-खड़े क्यों खाते है? कम-से-कम सोचना तो चाहिये। सम्यग्दृष्टि तो अवश्य सोचता है, यही तो उसके लिये उदाहरण है। वह प्रत्येक क्रिया में वीतरागता देखता है। खड़े होकर खायेगा तो पूर्ण पेट वह भर नही सकेगा और बैठकर खायेगा तो डबल खाये बिना रहेगा नही; क्योंकि बैठकर जिस समय खायेगे उस समय पेट को हिला सकते है। यूँ ही यहाँ वहाँ कर सकते हैं। जिस प्रकार धान नापते समय चालाक व्यक्ति नापने वाले बर्तन को धक्का लगा देता है, हिला देता है तो थोडा धान और चढ़ जाता है उसके ऊपर। उसी प्रकार बैठे-बैठे थोड़ा पेट को हिला लेते है और थोडा खाना और आ जाता है, इसमें कोई संदेह नही। यह गुंजाइश खडे-खडे खाने मे नही है, यह ध्यान रक्खो। यह उदाहरण आपको इसलिये समझ मे नही आयेगा; क्योकि आपने अभी तक ऐसा किया ही नही। एक स्थान पर खडे होकर भोजन करना है थोड़ा भी यदि आसन चेन्ज (परिवर्तित) हो जाये तो अन्तराय माना गया है; अर्थात् पैर डिग जाये, स्थानांतर हो जाये तो अंतराय माना गया है। एक ही स्थान पर अटेन्शन मे ही खाना होता है अन्यथा अंतराय है। दूसरी बात यह है, आप कभी सोचते होंगे कि हम तो एक ही हाथ से खाते है और ये (मुनि) तो दोनों हाथो से खाते है। दोनो हाथों से खाते है तो ज्यादा खाते होंगे। ऐसा नही है। थाली में खाने से तो एक हाथ की स्वतंत्रता रहती है और दोनों हाथों में लेकर खाने से असुविधा और भी बढ़ जाती है; क्योंकि हाथ छूटना भी नहीं चाहिये और अगर छूट जाये तो अंतराय माना गया है।

ये सारे-के-सारे विधान, ये सारे-के-सारे नियम वीतरागता के द्योतक हैं, इसमें कोई सदेह नहीं। यही निमित्त बन जाते हैं सारे-के-सारे, निर्जरा के लिये। इस प्रकार चौबीसों घंटे, बैठते समय, उठते समय, बोलते समय, आहार-विहार-निहार, शयन करते समय भी आप लोग मुनियों के माध्यम से शिक्षा ले सकते है। लेने वाला होना चाहिये।

अत: जिस व्यक्ति को भूख है चारित्र की, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त और तीव्र से तीव्रतम हो जाती है। जठराग्नि उत्तेजित होने पर पत्थर भी हजम हो जाता है। भूखे व्यक्ति को नमक-मिर्च लगा कर पत्थर भी दे दो तो वह हजम हो जायेगा, सरक जायेगा। कबूतर वगैरह को ही देखो, कोई कबूतर धान एक-दो खाता है और उसके साथ दो-तीन कंकड भी चले जाते है तो वे कंकड़ भी हजम हो जाते है उसको। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त कोई भी चारित्र कठिन-से-कठिन आ जाये तो उसे हजम कर लेता है वह, और कुछ भी शेष हो तो लाओ जल्दी-जल्दी क्योंकि मुक्ति मिलना चाहिये मुझे जल्दी-जल्दी ऐसा वह व्यक्ति कहता है। ऐसी रुचि होना चाहिये चारित्र लेने की परन्तु यह रुचि नही हो रही है, इसका अर्थ यही निकलता है कि वह टर्रा (अभव्य) की गिनती मे आ रहा है अभी या दूरानुदूर भव्य की गिनती में आ रहा है; आसन्न-भव्य की गिनती मे तो नही आ रहा है। अत: चारित्र लेने में जल्दी करना चाहिये, शुभस्य शीघ्रम्। इसमें कोई सदेह नही।

मुक्ति का मार्ग है छोड़ने के भाव। जो छोड़ देगा, त्याग करेगा, उसे प्राप्त होगी निराकुल दशा। और इसी को कहते है वास्तविक मोक्ष। **वास्तविक मोक्ष अर्थात् निराकुलता जितनी-जितनी जीवन में आये, आकुलता जितनी-जितनी घटती जाये उतना-उतना मोक्ष आज भी है।**

आपको खाना खाते समय सोचना चाहिये कि पाँच रोटी खाने मे आपकी भूख मिटती है तो क्या पाँच रोटी साबुत एक ही साथ मशीन जैसे ही डाल लेते हैं पेट में? नही। एक-एक ग्रास करके खा लेते हैं। इस प्रकार एक ग्रास के माध्यम से कुछ भूख मिटी, दूसरे ग्रास के

माध्यम से कुछ और भूख मिटी, ऐसा करते-करते पाँच रोटी के अन्त में अन्तिम ग्रास से दृष्टि-तृप्ति हो जाती है और आप कह देते हैं अब नहीं चाहिये। इसको पूर्ण भूख मिटना कहते है और एक-एक ग्रास के माध्यम से ही यह भूख मिटती है, शमन हो जाती है। इसी प्रकार निर्जरा के माध्यम से भी एकदेश मुक्ति मिलती है, पूर्ण भूख नहीं मिटती। और एक-एक देश आकुलता का अभाव होना, यह प्रतीक है कि सर्वदेश का भी अभाव हो सकता है। रागद्वेष आदि जितने-जितने भाग में हम इन आकुलता के परिणामों को समाप्त करेंगे उतने-उतने भाग में निर्जरा भी बढेगी और जितने-जितने भाग में निर्जरा बढ़ेगी उतनी-उतनी निराकुल दशा का लाभ होगा। आकुलता को छोडने का नाम ही है मुक्ति। आकुलता को छोड़ना अर्थात् आकुलता के जो कार्य है, आकुलता के जो साधन हैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव, इन सबको छोड़कर, जहाँ निराकुल भाव जागृत हों, वह अनुभव ही निर्जरा और मुक्ति है। इसलिये बार-बार एक-एक समय में आप लोग निर्जरा को क्रमशः बढा सकते है। और निर्जरा के बढने से मुक्ति भी पास-पास आती जायेगी। आपने तो समझ रक्खा है कही कोई कोठी भवन बना हुआ है वहाँ जाना है। ऐसा नही है, कोई भवन नहीं है भइया ! जहाँ आपको जाना है। मोक्ष तो यही है, आत्मा में है।

सात तत्त्वों मे एक तत्त्व मोक्ष भी है। और वह आत्मा से पृथक् तत्त्व नही है आत्मा का ही एक उज्ज्वल भाव है। बाकी के जितने भी तत्त्व है वे सारे-के-सारे तत्त्व एक दृष्टि से गौण हो सकते है लेकिन मोक्ष तत्त्व अनन्त काल तक प्रमुख रहेगा। वह फल के रूप में है। सभी का उद्देश्य यही है कि अपने को मोक्ष प्राप्त करना।

जिस समय मोक्ष होने वाला है उस समय हो जायेगा। मुक्ति तो अपने को मिल ही जायेगी। प्रयास करने से कैसे मिलेगी, प्रयास करना तो फालतू है—ऐसा कुछ लोग कह देते हैं। बिल्कुल ठीक कहा भइया ! यदि नियत ही आपका जीवन बन जाये तो मैं उस जीवन को सौ-सौ बार नमन करूँ। आप प्रत्येक क्षेत्र में नियत अपनाओ, जो पर्याय आने वाली है वह उसी समय आयेगी। अपने को क्या करना ? "होता स्वयं जगत् परिणाम" अपने-अपने स्वयं परिणमन होते रहते हैं लेकिन "मैं

जग का करता क्या काम"—इस ओर भी तो ध्यान देना चाहिये। "होता स्वयं जगत् परिणाम"—यह तो कहने में बहुत अच्छा लगता है परतु "मैं जग का करता क्या काम।" तो देख लो सामने—"मै जग का करता सब काम।" सारा काम तो कर रहे हैं आप। मुक्ति तो मिल ही जायेगी, सारी-की-सारी पर्यायें नियत है फिर आप इधर जा रहे हैं उधर जा रहे है, यह क्यो ? आज आधी सभा जुडी है कल पूरी ठसाठस भरी थी और अगले दिन सब खाली, आप भी अभी भागेंगे और यहाँ तो पार्श्वनाथ भगवान् एक यह ही रह जायेंगे जो मुक्त है। आप क्यो भाग रहे है यहाँ-वहाँ सब नियत है फिर जाना कहाँ ? नियत को यदि जीवन में अपनाओ और सुख न मिले, आकुलता न मिटे तो वह नियतिवाद ही नही है।

प्रत्येक समय मे प्रत्येक पर्याय होती है और वह पर्याय नियत है यदि यह श्रद्धान हो जाये तो मुक्ति दूर नही है, वही मुक्ति है, नियत-वाद के ऊपर उठ जाना ही मुक्ति है। सारे-के-सारे चोर उनके सामने सरेण्डर (समर्पित) हो जाते है, परंतु आप जहाँ मन आया वहाँ नियतिवाद अपना लिया और जहाँ इच्छा हुई नही अपनाया। ऐसा नही। नियत है बारह बजे खाना, रोजाना खाता हूँ, बारह बजे बिल्कुल नियत है आपका खाना। बारह बजे बैठ जाओ और अपनी पत्नी या रसोइये को भी कह दो कि बारह बजे तो नियत खाने का समय है, क्यो पसीना-पसीना हो रहे हो बैठ जाओ, आराम कुर्सी के ऊपर, गद्दी के ऊपर, तुम्हे भी एक थाली आ जायेगी और मुझे भी आ जायेगी। आयेगी, उसमे क्या जल्दी करना। दृढ श्रद्धा के साथ बैठ जाओ आप, लेकिन आप लोग क्या करते है—देर हो जायेगी, मै बोल रहा हूँ देर हो जायेगी, जल्दी-जल्दी रसोई बनाओ। बारह बजे जाना है—और अभी तो आपने कुछ भी रसोई नही बनाई और दस मिनिट मे कैसे आप बनाओगे, जल्दी करो, जल्दी करो, नही तो देर हो जायेगी। ऐसा आप समय से पहले ही रसोइये को कहते हैं कि नही। समय पर नही, समय से पहले ही क्रोध हो रहा है। नियतिवादी को क्रोध नही आता यह ध्यान रखना। नियति-वादी को कभी मान नही आता, नियतिवादी को किसी की ग़लती नजर नही आती। नियतिवादी के सामने प्रत्येक नियत है। "देखो जानो

बिगड़ो मत''—यह सूत्र अपनाता है वह। देखता रहेगा, जानता रहेगा लेकिन बिगड़ेगा नही और आप लोग बिगडे बिना नही रहते। आप देखते भी है जानते भी हैं और बिगड़ जाते है; इसलिये नियतिवाद को छोड देते है। भगवान् ने जो देखा, वह नियत देखा, बिल्कुल सही-सही देखा। जो कुछ भी पर्याय निकली, यह सब भगवान् ने देखा था। उसी के अनुसार होगा। यहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ के लिये कोई स्थान ही नही है और क्रोध, मान, माया, लोभ के ऊपर यदि आप विश्वास ज्यादा रखते है तो क्रोध कर लेते है। यह ध्यान रखना, यह आप नियतिवाद के ऊपर ही क्रोध कर रहे है और कहना चाहिये भगवान् के ऊपर क्रोध कर रहे हैं, क्योंकि जो भगवान् ने देखा, वही हो गया और उसको आप मान नही रहे है। क्रोध उठने का अर्थ ही है कि सारी-की-सारी व्यवस्था पर पानी फेर देना, नियतिवाद को नकार देना।

उदाहरण के लिये देखो कैसे चोर सरेण्डर हो जाते है और नियतिवाद के माध्यम से इसी प्रकार कैसे कर्मरूपी चोर सरेण्डर हो जाते है। एक बुढ़िया थी। बहुत सतोषी थी। खाती-पीती और सो जाती। पैसा बहुत था उसके पास। चोरो को मालूम हुआ तो उन्होंने सोचा कि बुढ़िया बूढी तो है ही और बहुत सारे पैसे है, आज यही चले, बुढिया के यहाँ। चार-पाँच चोर गये, देखा बुढ़िया तो सोई हुई थी। उन्होने सोचा यह ठीक है। आज भोजन मध्याह्न में अच्छा नही हुआ। बुढिया ने कुछ-न-कुछ तो रखा ही होगा पहले, भोजन कर लें फिर बाद मे देखेंगे। उन्होने भोजन कर लिया, सब कुछ लेकर चलने लगे, उसी समय कुछ गिर गया और गिरते ही बुढ़िया जोर से कहती है—हे भगवान्! बचाओ, बचाओ, बचाओ। यह आवाज सुनकर आस-पास, अडौस-पडौस मे जो भी लोग थे, दौडते-दौड़ते आ जाते हैं। अब चोर क्या करें? बाहर तो जा सकते नही इसलिये इधर-उधर छिप गये? पड़ौसी आकर के पूछते है बुढ़िया से। माँ जी क्या बात हो गयी। ऐसे क्यो चिल्ला रही थी। मै तो नही चिल्लायी। ऊपर वाला जाने। भगवान् जाने। (भगवान् तो ऊपर ही होते है।) ऊपर कोई होना चाहिये यह सोचकर सब लोग ऊपर देखते हैं। तो वहाँ छत

पर लटक रहा था एक चोर। उसने सोचा मैं क्यों फसूँ। वह काँपता हुआ कहता है कि वह…वह दरवाजे के पास छिपा है, दरवाजे वाला जाने। दरवाजे वाला कहता है वह बोरी के पीछे जो छिपा है वह जाने। बोरी वाला कहता है कि वह खाना खाने वाला, रसोई वाला है वह जाने। इस प्रकार करते-करते सारे-के-सारे चोर पकड़ में आ गये। अब बुढ़िया से पूछते है पुलिस वाले आकर। माँ जी! बताओ अब हम इनको क्या दंड दें। आज्ञा दो? हम क्या, ऊपर वाला जाने, उस समय भी बुढिया यो कह देती है। दड देने का अधिकार भी आप लोगो को नही। इस प्रकार एक बुढ़िया ने 'ऊपर वाला जाने'—ऐसा कहा अर्थात् नियत जो है सो है ही वह भगवान् जाने। यदि यह रट लगाओ तो बिल्कुल छुट्टी हो जाये चोरों की और आप लोगों को भी छुट्टी मिल जाये कर्मरूपी चोरो से।

बोलना-बोलना मात्र नियत चल रहा है, बिल्कुल क्रम से पर्याय आते है। बिल्कुल जानते है भगवान् भी और भगवान् के जो दास है, भक्त है वे भी, लेकिन मामला बिगड कहाँ रहा है? यही कि कषाय के वशीभूत होकर आप आत्मा को, अपने स्वरूप को भूल कर ही नियतिवाद से स्खलित हो रहे है।

नियतिवाद का अर्थ यही है कि अपने-आप में बैठ जाना, समता के साथ। कुछ भी हो परिवर्तन, परंतु उसमे किसी भी प्रकार का हर्ष-विषाद नही करना यह नियतिवाद का वास्तविक अर्थ है। प्रत्येक कार्य के पीछे यह ससारी प्राणी अहं बुद्धि या दीनता का अनुभव करता है। कार्य तो होते रहते है लेकिन यह उसमे कर्तृत्व भी रखता है यह बात नही है। हे भगवान्! आप इसीलिये तो सभी विश्व के लिये पूज्य है कि आप कर्तृत्व को एक द्रव्य में सिद्ध करके भी, बाह्य कारण के बिना उसमें किसी भी कार्य रूप परिणत होने की क्षमता नही बताते। कार्य रूप जो द्रव्य परिणत होता है उसमें बाहर का भी कोई हाथ है, ऐसा जानकर कोई भी व्यक्ति अभिमान नहीं कर सकेगा, ऐसा कह नही सकेगा कि यह मैने किया है और दूसरी बात यह भी कही है कि (बाह्य) बाहर वाला ही सब कुछ करता हो, ऐसा भी नहीं है। इस प्रकार कह कर दीनता को भी समाप्त कर दिया। कार्य में ढलने की

क्षमता उपादान में है इसलिये दीनता भी नहीं अपनाना चाहिये अर्थात् हाथ नहीं पसारना चाहिये।

इस प्रकार सारा-का-सारा कार्य एकमात्र मेरे हाथों हो रहा है, ऐसा अहं भाव भी न जागृत हो उस पथिक के मन में, इसलिये वे कह देते हैं कि तेरे अदर क्षमता तो है, शक्ति तो है, परंतु वह कार्य रूप में तभी व्यक्त होगी जब दूसरे का हाथ (निमित्त) उसमें लग जाये। इस प्रकार दीनता और अहं भाव दोनों हट जाते है और कार्य निष्पन्न हो जाता है। इन दोनो को हटाने के लिये ही नियतिवाद रखा है अर्थात् कि मैं कर्त्ता हूँ यह भाव निकल जाये। समय पर सब कुछ होता है मै करने वाला कौन ? यह भाव आ जाये तो समता आ जायेगी। और सब दूसरे के ऊपर ही आश्रित हैं मै नही कर सकूंगा ऐसा भाव भी समाप्त हो जायेगा।

आम पकने वाला है, आम में पकने की शक्ति है, आम मे मिठास रूप परिणमन करने की शक्ति है, उसके पास रस रूपी गुण है इसमे कोई सदेह नही। अब देखो आम कब लगते है ? चैत मे लगते है। और आम लग गये, अभी छोटे-छोटे से है और आप उन्हें तोड़ लो, क्योकि उस समय उनकी क्वाण्टिटी बहुत रहती है लाखो में, किन्तु उनका उस समय तोडना गलत है। क्यो तोडना गलत है ? इसलिये तोडना ग़लत है कि वे अभी पके नही है। तो कब पकेंगे वे ? दो महीने के उपरान्त पक जायेगे। तो कोई बात नही, अभी तोड लो दो महीने बाद तो पकना ही है, पक ही जायेगे। भइया ! पकेगे नही वो, अचार बन जायेगा ? हाँ, तो यह क्या है ? आम के पास पकने की क्षमता तो है और दो महीने चाहिये पकने के लिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हे अभी तोडकर दो महीने उपरान्त पका लो आप। वे तो वही डंठल के ऊपर, टहनी के ऊपर लटके रहें, दो महीने तक ऊगते रहें, हवा खाते रहें, सूर्य-प्रकाश लेते रहें, तब पकेंगे वे। अब आप कह सकते है कि यह तो घाटे का काम हो गया क्योंकि सभी आमों का नम्बर एक साथ तो आयेगा नहीं, इसलिये अपने को एक घड़ा रस इकट्ठा तो मिलेगा नही और हमारा परिवार तो बड़ा है, एक दिन में दो चार आयेंगे तो वे छोटे-छोटे बच्चे ही खा लेंगे और बड़ों को मिलना मुश्किल है। कोई

बात नहीं भइया ! उन्हें पकने की अवधि से पहले भी तोड़ा जा सकता है, लेकिन कब ? दो महीने से पंद्रह दिन पहले यदि तोड़ेंगे और यदि पाल में रखेंगे आप, पाँच दिन तक, तो वह बिल्कुल पक भी जायेंगे; अतः दो माह तक ही डाल पर रहे यह नियम भी नही है और दो महीने से पहले पकें यह नियम भी नही है, किन्तु डेढ़ महीना व्यतीत हो जाये तो उनमें पकने की योग्यता पूर्णरूपेण आ जाती है और शेष दिनों में उनके लिये यदि उष्णता मिले, तो वे पक सकते है और पंद्रह दिन की उष्णता आप दो दिन में भी दे सकते हैं, अतः दो महीने तक ही डाल पर रहे यह नियम नही रहा, किन्तु योग्यता को लेकर ही यह कार्य होगा।

मुक्ति के लिये आचार्यों ने बताया है कि हम ऐसे पकने वाले नही हैं जिस प्रकार आम डाली के ऊपर पक जाते है और उनको मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार से संसार मे लटकते-लटकते हम पकेंगे नही। 'पाला बिसे माली' कहा है बारह भावनाओ के चितन करते समय। इसका अर्थ यही है कि जब वह आसन्न भव्य बन जाता है तो पाल में रखकर अपनी आत्मा को यूं तपा देता है कि बस ! लेकिन उतावली आ गयी तो भी काम बिगड़ जायेगा।

एक बार की बात कहता हूँ अपनी। काम कुछ करना न पड़े और लाभ प्राप्त हो जाये इसलिये दूसरो को कह दिया कि तुम आम तोडो और तोडने के उपरान्त कच्चे ही, आधे तुम्हारे लिये और आधे हमारे लिये है, हिस्सा कर लिया। अब उन्हें पकाने का ठिकाना भी अलग-अलग हो गया, किन्तु उतावलापन देखो अब। शाम को पाल मे डाले और सुबह उठकर उनको दबा दिया। ऐ ! क्या बात हो गयी। पाँच दिन मे पकने वाला है तो कम-से-कम देख तो लूं पक रहा है कि नही। और थोडे इधर गये, उधर गये, फिर देखा, फिर देखा ऐसा करते-करते वे तो तीन दिन में ही पक गये। पकने का अर्थ क्या, कि आम के पास मीठापन, मुलायमपना आना चाहिये; किन्तु यहाँ तो बस मुलायम-पना आ गया, हाथ से दबा दिया, लेकिन हरापन गया नहीं और मीठा-मीठा भी नहीं हुआ अदर से। कुछ नही मिला, सारा काम बिगड़

गया। देखूं तो कुछ मिल रहा है या नहीं और इस प्रकार एकाग्रता न होने से कुछ नहीं मिल पाता।

एकाग्र होकर साधना करनी चाहिये, निराकुल होकर साधना करनी चाहिये यहाँ तक कि आप मोक्ष के प्रति भी इच्छा मत रक्खो। इच्छा का अर्थ है संसार और इच्छा का अभाव है मुक्ति। मुक्ति कोई ऐसी चीज नही है जहाँ जाना है, वह मुक्ति तो निराकुल भावों का उद्घाटन करना है अपने अंदर।

आज तक राग का ही बोलबाला रहा है, अब वीतराग अवस्था का ही मार्ग उद्घाटित करना चाहिये क्योंकि वास्तव मे देखा जाये तो ससारी प्राणी के दुःख का कारण है राग। संसार सकल त्रस्त है आकुल-विकल है और इसका कारण एक ही है कि हृदय से नही हटाया विषय-राग को हमने। हृदय मे नही बिठाया वीतराग को, जो है शरण-तारण-तरण। अत. अपने को वीतराग अवस्था को अपने हृदय में स्थान देना है और राग को फेंक देना है। यह ध्यान रखना, राग के लिये भी एक ही जगह दी जाये और वीतराग के लिये भी वही जगह दी जाये, ऐसा हो नही सकता, क्योंकि दोनो एक दूसरे के विपरीत है। जहाँ राग रहेगा वहाँ वीतराग अवस्था नही है। हाँ, राग मे कमी आ सकती है और राग मे कमी आते-आते एक अवस्था में राग समाप्त हो जायेगा और पूर्ण वीतराग भाव प्रकट होंगे। स्वभावनिष्ठ वह प्राणी बनेगा और उसके सामने ससार भी नतमस्तक हो जायेगा।

सुख को चाहते हुए भी यह संसारी प्राणी राग को नही छोड़ रहा है और इसीलिए दुःख को नही चाहते हुए भी दुःख पा रहा है। राग है दुःख का कारण और सुख का कारण है वीतराग। वीतराग कोई बाहर से नहीं आता और राग भी कोई बाहर से नही आता; हाँ, राग बाहर की अपेक्षा अवश्य रखता है किन्तु आत्मा में होता है और वीत-राग भाव, पर की अपेक्षा नहीं; किन्तु आत्मा की अपेक्षा रखता है। आत्मा की अपेक्षा आप लोगो को आज तक हुई नहीं और पर की ही अपेक्षा में लगे हैं। बाह्य की अपेक्षा का अर्थ है संसार और आत्मा की अपेक्षा का अर्थ है मुक्ति। यह संसारी प्राणी किसी-न-किसी से अपेक्षा

रखता ही है; परंतु अपेक्षा मात्र आत्मा की रही आवे और संसार से उपेक्षा हो जावे तो यह प्राणी मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

मुक्ति पाने का उपक्रम यही है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपनाकर, निर्ग्रन्थता अपनाये। जब तक आप अपने-आपको बिल्कुल खुला नहीं बनाओगे, अकेले आप नही रहोगे, तब तक आपको मुक्ति भी नहीं मिलेगी। कोई व्यक्ति भारत से पाकिस्तान अर्थात् देश से देशान्तर जाता है तो बार्डर पर उसकी सारी-की-सारी चिकित्सा (जाँच) की जाती है (शल्य चिकित्सा नही, यह ध्यान रखना)। उसके सारे-के-सारे रोम-रोम खोल दिये जाते है कि कही ऐसा न हो कोई बिस्किट लेकर के जा रहा हो। बिस्किट, खाने वाला नही, हाँ! सोने का बिस्किट। इसी प्रकार मुक्ति का मार्ग भी ऐसा ही है आप कुछ छिपाकर ले नहीं जा सकते, सारे-के-सारे बिस्किट का त्याग यही पर करना होगा। वहाँ तो शाश्वत आरेंज बिस्किट अलग है वे दे दिये जायेंगे, परतु जब तक आप अकेले नही बनोगे तब तक मुक्ति का पथ भी नही खुलेगा।

मुक्ति का मार्ग यही है–'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये वीतराग के प्रतीक है। इन तीनों के साथ आडम्बर नहीं रहेगा, सांसारिक परिग्रह नहीं रहेगा। एकमात्र शरीर शेष रह जाता है और उसे भी परिग्रह कब माना है जब शरीर के प्रति मोह हो। शरीर को मात्र मोक्षपथ में साधक मानकर जो व्यक्ति चलता है वह व्यक्ति निस्पृह है और मुक्ति का भाजक बन सकता है। तो आज भी मुक्ति का अनुभव किया जा सकता है, यह ध्यान रक्खो। आप कहेंगे मुझे भी बताओ तो ऐसा है भइया! एक द्रव्य-मुक्ति होती है और एक भाव-मुक्ति होती है, जो आज भी सभव है। द्रव्य-मुक्ति, भाव-मुक्तिपूर्वक ही होती है अर्थात् भाव-मुक्ति हुए बिना द्रव्य-मुक्ति नही होती। द्रव्य-मुक्ति का अर्थ यूं कह दें कि शरीर का छूटना और आठों कर्मों का छूटना। और भाव-मुक्ति का अर्थ क्या कि भाव छोडना। भाव छोडें तो फिर क्या रहेगा महाराज! रहेंगे, द्रव्य रहेगा भइया! दो व्यक्ति हैं और दोनो के पास एक-एक तोला सोना है। मान लो, दोनो के पास सोना है, किन्तु एक बेचने वाला

है और एक बेचने वाला नहीं है। तो जो बेचने वाला नही है वह भावों की तरफ (सोने का भाव) दौड़ेगा नही, किन्तु जो बेचने वाला है वह भावों की ओर भाग रहा है और उसको सोने (स्लीपिंग) का अभाव है नींद नही लग रही है, करवट ले रहा है वह। तो सोने (स्लीपिंग) के लिये सोने (गोल्ड) के भाव की तरफ मत देखो। तब भी सोना (गोल्ड) ज्यों-का-त्यों रहेगा। भाव—जो मोह रूपी है, उस मोह-भाव का हट जाना ही मुक्ति है। मोह किससे है? जो कोई भी दृश्य दीखने में आ रहे हैं उन सभी के प्रति मोह है। जिन-जिन वस्तुओं के साथ आप लोगो का मोह है वही तो ससार है और जिन-जिन पदार्थों के प्रति आपका मोह नही है उन-उन पदार्थों की अपेक्षा, आप मुक्त है। पड़ौसी के पास भी द्रव्य (धन-पैसा) है, किन्तु उससे आपका कोई भी सरोकार नहीं है लेकिन आपके पास जो पदार्थ है उनमें आपने जो स्वामित्व जमाया है उस अपेक्षा से आप बंधित है, मुक्त नही हैं। मोह का अभाव हो जाये तो बस आज मुक्ति है उस मुक्ति का अनुभव आप कर सकते है।

आज भी रत्नत्रय के आराधक, रत्नत्रय से शुद्ध जिन्होंने अपनी आत्मा को बनाया है, ऐसे मुनि-महाराज है। जो आत्म-ध्यान के बल पर स्वर्ग चले जाते है, और स्वर्ग मे भी इन्द्र या लौकान्तिक होते है और फिर मोक्ष को प्राप्त करते है। मुक्ति आज भी है किन्तु मुक्ति ऐसी है जिस प्रकार कि कोई यहाँ से देहली जा रहा है बिल्कुल एक्सप्रेस, उत्कल एक्सप्रेस से। वह रेल डायरेक्ट सागर से चलेगी और देहली सुबह-सुबह पहुँच जाओगे। और एक वह है जो आगरा इत्यादि में रुकते-रुकते जाती है, यह रुकने वाली गाड़ी एक्सप्रेस नही कहलाती, लेकिन यह पटरी भी नही बदलती यह भी ध्यान रखना, उसी पटरी पर चल रही है, कुछ विश्राम लेती है, डायरेक्ट दिल्ली नही जा रही है। इसी प्रकार आज डायरेक्ट मुक्ति तो नही है, लेकिन कोई बात नही। बीच में आगरा जैसे इंद्ररूप या लौकान्तिक इत्यादि स्टेशन है वे स्टेशन भी देख लो अन्तिम बार। फिर आना ही है तो वापिस क्या आना। देहली में रहना है तो आगरा भी देख लो कम-से-कम। इस अपेक्षा से बीच मे रुकना पड़ रहा है, परंतु वह उस मोक्षपथ से च्युत नही होता अर्थात्

सम्यग्दर्शन छूटता नहीं है इसलिये रत्नत्रय की जो भावना भायी थी वह भावना वहाँ जागृत रहती है। रत्नत्रय नहीं हो पा रहा है, मुक्ति नही मिल रही है; किन्तु भावना तो यही रहती है कि कब मिले ? कब मिले वह ? इस प्रकार उसका एक-एक समय कटता रहता है और उस श्रुत की आराधना करते हुए सारे-के-सारे देव समय व्यतीत करते हैं। तो इस प्रकार, इस अपेक्षा से सोचा जाये तो आज मुक्ति नही है ऐसा कहना, यह तो भूल है।

मुक्ति का मार्ग है तो मुक्ति है और मुक्ति है तो आप राग-द्वेष का अभाव भी कर सकते है। यह सब किस अपेक्षा से है यह समझना चाहिये। सासारिक पदार्थों की अपेक्षा जो किसी से राग नहीं है, द्वेष नही है, यही मुक्ति है। यह जीवन आज बन जाये। सिद्ध परमेष्ठी के समान आप भी बन सकते है, उम्मीदवार अवश्य है, कुछ समय के अंदर नम्बर आयेगा, यह सौभाग्य हमें भी प्राप्त हो सकता है। अभी आप लोगों की रुचियाँ अलग हो सकती है, धारणा कुछ अलग हो सकती है, विश्वास कुछ अलग हो सकता है; किन्तु यह ध्यान रखना अन्त मे पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा। जिस समय व्यक्ति चूक जाता है और अन्त आ जाता है तो पश्चात्ताप ही हाथ लगता है। कुछ फल की प्राप्ति नही हो पाती।

यह स्वर्ण जैसा अवसर है, यह जीवन बार-बार मिलता नही, इसकी सुरक्षा, इसका विकास, इसकी उन्नति को ध्यान में रखकर इसका मूल्यांकन करना चाहिये। जो व्यक्ति इसको मूल्यवान समझता है वह साधना-पथ पर कितने ही उपसर्ग और कितने ही परीषहो को सहर्ष अपनाता है। इन उपसर्गों और परीषहो को सहर्ष अपनाने वाले कोई भी है, वे मुनि है। प्रतिकार करने वाले तो मिलेंगे पर हमें तो उसी रास्ते से गुजरना है। महावीर भगवान् ने जो रास्ता बताया, बताया ही नही बल्कि वहीं से गये हैं। उपसर्ग और परीषहों में से होकर गुजरे है। वह रास्ता एयर कडीशण्ड हो, सारी-की-सारी फेसेलिटीज हों, ऐसा कोई रास्ता नही है भइया ! हाँ ऐसा कोई काल्पनिक रास्ता हो सकता है। मोक्षमार्ग तो वही है जो परीषह-जय और उपसर्गों से प्राप्त होता है और जो उसे धारण करने के लिये तैयार हैं उन्हें वह अवश्य मिलता है।

उत्साह के साथ, खुशी के साथ तन-मन-धन सब कुछ लगा कर, वह मुक्ति का मार्ग अपनाना चाहिये। एक बार भी उस रास्ते पर चलना प्रारंभ कर लें तो पुनः लौटने की आवश्यकता नहीं होगी। अनन्तकाल तक वहाँ आपको विराम मिलेगा। कोई दिक्कत नही है वहाँ। अपनी सत्ता अपने अंदर ही विद्यमान होगी, किसी के अंडर में नहीं रहना है। अपने अंडर में सारे-के-सारे ज्ञेय पदार्थ रहेंगे और हम ज्ञाता, एक मौलिक द्रव्य बने रहेंगे; अतः हम मुक्ति के भाजक बन सकते हैं। अभव्य भी बन सकते हैं। इस "सकने" की अपेक्षा से, शक्ति तो विद्यमान है बनना प्रारंभ कर दो।

प्रतिक्रमण अर्थात् आत्मा की ओर आना और आक्रमण अर्थात् बाहर की ओर जाना। और मुक्ति का अर्थ प्रतिक्रमण है, निर्जरा है। यह सब समझना चाहिये। इस क्षणिक रस में ही जीवन काटना चाहो तो काटो; लेकिन मै समझता हूँ ऐसा जीवन तो हम अनेक बार व्यतीत कर चुके। अब इस बार निश्चय करे कि हे भगवन्! अपने को किस प्रकार मुक्ति मिले। इसे प्राप्त करने के लिये हमें क्या करना है। मुक्ति तो अविपाक निर्जरा का फल है और अविपाक निर्जरा तप के माध्यम से होती है, तो हम तप करे जिसके माध्यम से आत्मा ऐसा तप जाये कि उसके पास जो भी किट्टिमा है वह सारी-की-सारी निकल जाये और एकमात्र शुद्ध स्वर्ण द्रव्य शेष रह जाये। भगवान् से प्रार्थना करो अपनी आत्मा से भी यह प्रार्थना करो, अपने भावो से भी यह प्रार्थना करो कि हमारे मोहजन्य भाव पलट जाये और अदर मोक्षजन्य जो भाव हैं, जो निर्विकार भाव है, वे जागृत हो।

महावीर भगवान् की जय!

अनेकान्त

(परमपूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा दिनांक १६-६-८०, को मध्याह्न समय वर्णी भवन, मोरारजी सागर में दिया गया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रवचन)

संपादन—चेतनप्रकाशजी पाटनी, प्राध्यापक जोधपुर विश्वविद्यालय

* अनेकान्त का हृदय है समता । सामने वाला जो कहता है उसे सहर्ष स्वीकार करो । ऐसा कोई भी मत नही है जो भगवान् महावीर की देशना से सर्वथा असम्बद्ध हो ।

* अनेकान्त की प्ररूपणा के लिये, उसे समझने के लिए सहायक है नयवाद । जो कोई भी नीति है, अनीति है, ध्रुव है, अध्रुव है, जितने भी विकल्प जाल है वे सब के सब नयाश्रित हैं।

* प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये चार गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण है । जो 'अस्तित्व गुण' को ग्रहण नही करता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के पास जो अस्तित्व है, उसे नकार देता है, उससे इन्कार कर देता है, तो ध्यान रहे, उसके पास सम्यग्दर्शन रह कैसे सकता है ?

* जो व्यवहार नय को नही मानोगे तो तीर्थ का उच्छेद हो जायेगा और निश्चय नय को नही मानोगे तो आत्मा का कल्याण नही हो सकेगा । व्यवहारनय का अर्थ है विश्व कल्याण और निश्चयनय का अर्थ है आत्मकल्याण ।

* भीतर जो आत्म तत्त्व के प्रति तनिक-सा भी आलस्य आ जाता है, उसका नाम प्रमाद है । जिसमें हमारा हित निहित है, उसके प्रति किसी भी प्रकार की आलस्य-प्रवृत्ति की सज्ञा प्रमाद है । अनादिकाल का यह प्रमाद प्रत्यय हम लोगो का हटा नही, मिटा नही ।

पूज्य गुरुदेव (स्व० आचार्य ज्ञानसागरजी) के सान्निध्य में मेरा 'दर्शन' का अध्ययन चल रहा था, उस समय के भाव आज भी मेरे मानस में पूर्ववत् तरंगित हैं ।

मैंने पूछा—"महाराजजी ! आपने कहा था कि मुझे न्याय-दर्शन का विषय कठिनाई से हस्तगत होगा, इसका क्या कारण है ?"

वे बोले—"देखो ! 'प्रथमानुयोग' पौराणिक कथाओं और श्रेष्ठ शलाका पुरुषों का वर्णन करने वाला है, वह हजम हो जाएगा। 'करणानुयोग' भूगोल का ज्ञान कराता है, दूरवर्ती होने के कारण उस पर भी विश्वास किया जा सकता है। (समन्तभद्र स्वामीजी की रत्नकरण्ड-श्रावकाचार की कारिका २/३ के अनुरूप) इसमें कोई विवाद नही चलेगा। 'चरणानुयोग' आचरण की प्रधानता वाला है; हिंसा को धर्म नही मानता, किसी को पीड़ा दो—यह किसी भी धर्म मे नही कहा गया, इसलिये यह भी सर्वमान्य होगा किन्तु 'द्रव्यानुयोग' के अन्तर्गत **आगम** और **अध्यात्म**—ये दो प्ररूपणाये चलती है। प्रत्येक आत्मार्थी 'अध्यात्म' को चाहता है अतः जहाँ पर इसका कथन मिलता है, वहाँ तो साम्य हो जाता है परन्तु 'आगम' मे साम्य नही होगा।"

"'ध्यान' के विषय मे सब एक मत हैं। ध्यान करना चाहिए-मुक्ति के लिए यह अनिवार्य है। किन्तु ध्यान किसका करना ? उसके लिए ज्ञान कहाँ से और कैसे प्राप्त करें? इसके लिये 'आगम' देखना होगा। 'आगम' में भी कर्म सिद्धान्त को सारी दुनिया स्वीकार करती है अपने-अपने ढग से, दृष्टियाँ अलग-अलग है लेकिन कर्म को सब ने स्वीकृत किया है।"

मैंने बीच मे टोकते हुए कहा—"तो फिर रहा ही क्या ?"

उत्तर मिला—"रहा वह जो आपके गले उतरना कठिन है।"

मैंने पूछा—"वह क्या ?"

बडे सहज भाव से बोले—"द्रव्यानुयोग के दो भेद है १. आगम और २. अध्यात्म। आगम के भी दो भेद है—१. कर्म सिद्धान्त—जो सभी को ग्राह्य है, १४८ कर्म प्रकृतियो को या मूल में आठ कर्मों को सब स्वीकार करते हैं। २. दूसरा भेद है—दर्शन और यही पर विचारों मे विषमता आ जाती है। दर्शन के क्षेत्र मे तत्त्व-चिन्तक अपने-अपने ज्ञान के अनुरूप विचार प्रस्तुत करते हैं, ऐसी स्थिति में छद्मस्थ होने के कारण वैचारिक संघर्ष संभव है।"

मैंने टोका—"आप यह सब बताकर क्या कहना चाह रहे हैं ?"

मेरी प्रश्न-मुद्रा की ओर देखते हुए गुरुदेव बोले—"देखो ! षड्दर्शन में जैन-दर्शन कोई दर्शन नहीं है परन्तु यदि उन छह दर्शनों का संचा-

लन करने वाला कोई है तो वह है—जैन-दर्शन। जो छह दर्शनों की ओर अलग-अलग भाग रहे हैं, उन्हें एकत्र करके समझाने वाला यह जैन-दर्शन है।"

मैं बोल पड़ा—"तब तो इसके लिये सभी के साथ मिलन की आवश्यकता पड़ेगी।"

महाराजजी बोले—"इसीलिए तो मुनि बनाया है। और मुनि बनने के उपरान्त यह आवश्यक है कि समता आनी चाहिए तभी अनेकान्त का हार्द विश्व के सामने रख सकोगे। यदि समता नहीं रखोगे तो जैन-दर्शन को भी नहीं समझ सकोगे, उसे साफ (समाप्त) कर दोगे, यह ध्यान रखना।"

बन्धुओ! जैन दर्शन को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जैन दर्शन वकालत नहीं करता, अपितु जो वकालत करने के लिए विविध तर्कों से लैस होकर संघर्ष की मुद्रा में वकील आते हैं, उन्हें साम्य भाव से सुनकर सही-सही जजमेंट (Judgement) देता है, निष्पक्ष होकर निर्णय देता है।

आज हम लोगों के सामने ३६३ मतों की कोई समस्या नहीं है; उन्हें समझाया जा सकता है बशर्ते कि हम उनकी बात सुनें और समझें। उनकी बात काटनी नहीं है और आप काटना चाहें तो भी वह कट नहीं सकती क्योंकि **जिसका अस्तित्व है उसका नाश, विनाश हो नहीं सकता**। उसको मिटाने का प्रयास करोगे तो आप ही मिटोगे, नहीं तो पिटोगे अवश्य, क्योंकि संघर्ष होगा।

अनेकान्त का हृदय है—समता। सामने वाला जो कहता है उसे सहर्ष स्वीकार करो। दुनिया में ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान् महावीर की देशना से सर्वथा असम्बद्ध हो। मैं बार-बार कहा करता हूँ कि हम दूसरे की बात सुनें और समझें। कभी-कभी ऐसा होता है कि बुद्धि का विकास होते हुए भी जब समता का अभाव होता है तो हम सामने वाले व्यक्ति के अस्तित्व को समझ नहीं पाते, जबकि गौर

से देखने पर उस अस्तित्व के माध्यम से अपने को क्या लाभ है यह ध्यान में आ सकता है।

३६३ मतों का उद्गम कहाँ से हुआ? जरा, विचार करें! उनका मूल स्रोत है—भगवान् से निःसृत श्रुत। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'मूलाचार' में दिव्य ध्वनि को "सांशयिकी अनुभय भाषा" कहा है। यह अनुभय भाषा बोलने वाले तीर्थंकर, केवलज्ञान से विभूषित है किन्तु उस दिव्य ध्वनि को समझने की क्षमता श्रोताओ के पास नही होती अत वे उसे सुनकर सन्देह पैदा कर लेते है। यदि दिव्यध्वनि नही खिरती तो ३६३ मतो का उद्भव नही होता। कुन्दकुन्द जैसे आचार्य ऐसा कहने मे संकोच नही करते। इन ३६३ मतो को पैदा करने वाली दिव्यध्वनि है तो फिर वे कौन-से केवली है जिन्होंने दुनिया में झगड़ा पैदा कर दिया! बन्धुओ! दुनिया झगडे की दलदल मे फँस जाएगी, इसलिये वस्तु स्थिति को ही न बताया जाए, ऐसा विचार ठीक नही। जिसका जैसा भविष्य है, वह होने वाला तो बाद मे है परन्तु उसके लक्षण-चिन्ह पूर्व मे ही दिखाई देने लगते है। आप जो यह कहते रहते है कि 'पूत के लक्षण पालने मे दिखाई देते है।' यह कहावत बिलकुल ठीक है। इसमे कोई सन्देह नही कि जिसका होनहार अच्छा होता है, वह दिव्य ध्वनि के माध्यम से, सन्देह नही करते हुए सन्मार्ग पर अग्रसर हो जाता है और जिसे इस ससार का अनुशासन करना अभीष्ट है, वह अनुशासक बनकर ३६३ मतों में से किसी एक का अनुपालक बन जाता है।

३६३ मतो के माध्यम से आने वाली किसी भी समस्या को जैन दर्शन का अनुयायी उसी प्रकार झेल लेता है जिस प्रकार कुम्हडे का डण्ठल कुम्हडे को। कुम्हडा बडा फल है और उस बेल मे एक फल नही होता, एक नही, दो नही, तीन नही… हमने अपनी आँखो से देखा है बहुत छोटी-सो तो बेल है और एक-एक पर ऐसे-ऐसे… बड़े-बड़े… अनेक कुम्हडे। ध्यान रहे…वह डण्ठल उस सारे बोझ को भी बडी आसानी से झेल रहा है, वह बेल टूट नही रही है। उस डण्ठल मे उस बेल ने ऐसा रस भर रखा है, मै सोचता हूँ, जैसे औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर में परमाणु उत्तरोत्तर असंख्यात और अनन्त बताए गये हैं; उसी प्रकार कुम्हड़ा यद्यपि औदारिक शरीर जैसा स्थूल है लेकिन डण्ठल को तो—मै समझता हूँ तैजस कार्मण जो

'परं परं सूक्ष्मम्' है।[1] उसमें इतनी शक्ति है और उस शक्ति के माध्यम से वह बेल अनेक कुम्हड़ों को—जो मनों भी हो जाएं—लेकर बढ़ रही है, ऊपर की ओर जा रही है।

कोई समस्या नही है स्याद्वादी के सामने। जज को, न्यायाधीश को पसीना नहीं छूटता और यदि उसे पसीना छूटने लगे तो, याद रखिए, उसकी निर्णायक शक्ति समाप्त हो जाएगी। वकील भले ही इधर का उधर और उधर की इधर करते रहें लेकिन जज के मुख पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया आपको मिलेगी नही। उस समय वह इधर की भी सुन रहा है और उधर की भी क्योंकि दोनों पक्ष तैयार होकर आए हैं; पर दोनो एकांगी क्योंकि दोनो मे झगडा है। वह दोनो को सुनता है, समझता है, इकतरफी दलीलें सुनकर वह न्याय नही करता और उनके सामने तुरत जजमेण्ट—निर्णय भी नही देता। वह कहता है—थोड़ी देर विचार कर लूं।

बात यह है कि दिव्यध्वनि से ही तो सारे के सारे मत-मतान्तर जन्मे है। किन्तु इनकी कोई समस्या नही है, समस्या कोई आज की होती तब भी कोई बात थी, ये तो अनादिकालीन समस्याएँ है। सम्यग्दृष्टि के सामने ये समस्याएँ आयेगी तभी तो उसकी परख होगी, उसकी योग्यता और उसकी दृढ़ता कसौटी पर चढ़ेगी।

महावीर कहते है कि यदि कोई व्यक्ति भगवान् से यह कहता है कि आप अज्ञानी हैं। तो वे कहते है कि हाँ, हम है। कोई भी सिद्ध परमेष्ठी को अज्ञानी कह दे तो केवलज्ञानी सिद्ध परमेष्ठी समझ लेंगे कि हाँ, हम अज्ञानी है। ये शब्द वे सुन रहे होंगे। कोई उन्हें अज्ञानी कहता है और वे उसको भी 'हाँ' कह रहे है और हम लोग दोनों भुजाओ को यूं कर लेते है (लडने की मुद्रा)। वे केवलज्ञानी—जिनसे हमे दिव्यध्वनि प्राप्त हुई—इस बात को मंजूर कर रहे है कि दुनिया उन्हे कोई भी टाइटल-उपाधि दे, वे उसे स्वीकार कर लेंगे क्योंकि उस रूप भी वे है। किन्तु उनके उपासक लड़ पड़ते है। "नही····नही·· हमारे भगवान् ऐसे नही है, ऐसे नही हो सकते····।" वे हँस रहे होंगे भगवान्

---

१. औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानिशरीराणि। परं परं सूक्ष्मम्। प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात्। अनन्तगुणे परे ॥ ३६—३९ तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २।

ऊपर बैठे-बैठे, अरे ! मैं तो मान रहा हूँ। गुरु तो मान रहे हैं लेकिन··· शिष्य नहीं मान रहा है··· तो फिर वह शिष्य ही नहीं है। गुरु मान रहा है कि मैं अज्ञानी हूँ· कह दो ! क्या बात हो गई ? अज्ञानी कहने से शिष्य सोचता है कि आप यह कैसे मान रहे है तो उसकी जिज्ञासा बलवती होगी। अवग्रह के बाद ईहा को स्थान मिलना चाहिये, बन्धुओ ! अवग्रह–होते ही, शब्द कानो मे आते ही उनको काटकर फेक देते हो। अवग्रह होते ही जो व्यक्ति उस विषय को छोड देता है उसके ज्ञान की धारणा शक्ति ही कैसे हो ? अवग्रह के उपरान्त ईहा ज्ञान यदि उत्पन्न होता तो अवाय के लिए अवकाश मिलता, और ईहा का अर्थ एक प्रकार से शका है, सन्देह है··· लेकिन है उस पदार्थ के बारे मे जो अवग्रह के द्वारा ग्रहीत है। जब सन्देह होगा तभी तो तर्कणा जन्म लेगी, इसी को कहते है आगम का एक पहलू–दर्शन।

दर्शन का समीचीन अर्थ ज्ञात नही होने के कारण ही आज यह वैषम्य उद्‌भूत हुआ है, ऐसा नजर आता है। पण्डितजी सा. (श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, वाराणसी) ने प्रात एक बात बहुत अच्छी कही थी। उसके बारे मे मैने विचार किया कि कुन्दकुन्द के साहित्य मे जो अध्यात्म है, उसमे और सिद्धान्त मे कोई अन्तर नही है। अन्तर इतना ही है कि भगवान् कुन्दकुन्द सीधे खिला रहे है और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, धवला-जय धवला-महाधवलाकार का कहना है कि यूं घुमकर खाना चाहिए। बात ऐसी है कि जब खाना हो है और खिलाना ही है तो फिर (राउण्ड) चक्कर क्यो ? घुमाव क्यो ? मैने विचार किया इसके बारे मे––

इसमे कोई सन्देह नही कि जिस व्यक्ति को खाना खाने का सही-सही ज्ञान है उसे तो सीधा खिलाते है क्योकि वह अपने लिए पोषक और विवेक के साथ जितनी मात्रा चाहिए उसको चबा-चबा के खा लेता है। परन्तु जिनको भोजन का विवेक नही है, हितकारक और अहितकारक का जिसे ज्ञान नही है, जो विषयों मे लम्पटी है, उसके सामने आप बादाम की बर्फी रखो तो वह उस पर टूट पड़ेगा और हबड····हबड···· कर जल्दी-जल्दी ठूंस लेगा, जिसकी वजह से उस बर्फी का मूल्य भी कम हो जाएगा। इसीलिए उसे सीधे नही खिलाते।

दोनों में अन्तर क्यों नहीं है भैय्या ! अन्तर तो बहुत है-सब जानते हैं। इसीलिए जब गरम खीर परोसी जाती है तब माँ कहती हैं, धीरे-धीरे खाना, स्वाद ले-लेकर, एकदम खा लेगा तो गड़बड़ हो जाएगी।

संसार मे जो विचार-वैषम्य है वही तो हम लोगों के लिए एक प्रकार से खतरा बना हुआ है। आचार्य कहते हैं कि विचार-वैषम्य को यदि मिटाना चाहते हो और अपने विचार के अनुरूप अथवा यूँ कहिये अनेकान्त के अनुरूप सामने वाले को बोध देना चाहते हो तो सामने वाले की बात पहले मजूर कर लो, जैसे मै मजूर कर लेता हूँ। केवलज्ञानी को अज्ञानी कह दिया जाये तो केवलज्ञानी "कथञ्चित् मै अज्ञानी हूँ" कह देते है। कभी अज्ञानी की पूजा की आपने ?" नही... नही" हम तो ज्ञानी की ही पूजा करेगे ।"–यही तो एकान्त दृष्टि है आप लोगो की। आप अज्ञानी की पूजा किया करे, लेकिन कौन से अज्ञानी की, प्रश्न उठेगा यह, तो जो केवलज्ञानी बैठे है उनकी, वे अज्ञानी है, जिन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, उन्हे भी कुन्दकुन्दाचार्य कहते है कि वे अज्ञानी है–क्योकि आपके पास तो चार ज्ञान हो सकते है १ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान और ४. मन पर्यय ज्ञान। लेकिन उनके पास तो एक ही ज्ञान है" (श्रोता समुदाय मे हंसी)' ऐसी स्थिति मे वे तो अज्ञानी हो गये ओर वे अपने आपको अज्ञानी मजूर कर भी लेते है लेकिन आप कहेगे नही" नही" , ये केवलज्ञानी को अज्ञानी बता रहे है, भगा दो इन्हे यहाँ से। लेकिन वे कहते है–अरे भैय्या ! इसको सम्यग्दर्शन की भूमिका होने वाली है, यह कम-से-कम मेरी एक बात तो मान रहा है।

एक नैयायिक मत है जो "ज्ञानादिविशेषगुणाभावः मुक्ति" ज्ञानादि विशेष गुणो के अभाव को मुक्ति मानता है। केवलज्ञान पाने के बाद भगवान् कहते है कि "हाँ, कथञ्चित् आपकी बात भी ठीक है। आप जो कह रहे है वह बिल्कुल ठीक है।"

"बिल्कुल ठीक है"" ऐसा कहने से उसका स्वागत हो जाता है, वह आकर वहाँ पर बैठ जाता है, पहले मित्रता बनाये फिर धीरे.... धीरे धीरे "। सम्यग्दर्शन कोई मोम का थोड़े ही है कि पिघल जाए। आप लोग सुरक्षा में लगे है कि कही मेरा सम्यग्दर्शन नष्ट न हो

जाए। ध्यान रखो! सम्यग्दर्शन में सर्वाधिक दृढ़ता होती है, बज्र टूट सकता है लेकिन वह सम्यग्दर्शन खण्डित नही हो सकता। हो सकता है, आप लोगों का सम्यग्दर्शन मोम का हो, इसीलिए इतना घबराते है आप।

बन्धुओ! कोई पिघलने वाला सम्यग्दर्शन नही होता; सारे-के-सारे ३६३ मत यदि एक साथ भी धावा बोल दे, तो भी सम्यग्दृष्टि कहेगा कि मै तैयार हूँ, आ जाओ भाई। वे यदि उसके पास आ जायेंगे तो उन पर इतना प्रभाव पड़ेगा कि वे कहने लगेगे–"अरे! हम तो इनको काटने के लिए आये पर इन्होने तो अपनी बात मान ली।" "तो हमने आपकी बात कब मजूर नही की?" "तो हम दोनों फिर एक हो गए।" "हाँ! एक तो है ही।" इस तरह धीरे-धीरे काटो भइया; ऊपर से, झटके से नही; ऊपर से काटने पर खुद ही कट जाओगे क्योकि वह भी काटने के लिए तैयार हो जाएगा। अत पहले उसकी बात स्वीकार कर फिर अनेकान्त के माध्यम से समझाओ कि देखो! चार ज्ञान का तो हम अभाव मानते है। कौन से चार ज्ञान? मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय–ये चार विशेष ज्ञान है। केवलज्ञान विशेष नही सामान्य है, वह तो हमेशा बना रहता है, पर्याय की ओर न देखकर केवलज्ञान रह जाए, केवल अर्थात् नथिंग एल्स (Nothing else, only) आनली–केवल ज्ञान, मात्र ज्ञान। क्षायिक मत कहो… अभी यह सवाल नही। यही तो बात है कि बहुत-सी सारी बातें आप लोग एक साथ खोल देते है, इसीलिए उनका महत्त्व कम हो जाता है। एक साथ खिलाना नही चाहिए, धीरे-धीरे पूँछ पकड़ते-पकड़ते धीरे से सिर तक आ जाओ। यह अनेकान्त की शैली है।

"देखो! ज्ञानादि चार विशेष ज्ञान का अभाव तो हम मान ही रहे हैं।"

"वे कौन-कौन से?"

"मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्ययज्ञान, ये विशेष माने गए है, इनका तो हम भी अभाव मानते है और आप भी अभाव मानते है।"

"हाँ, मानते है।"

"बिल्कुल ठीक है।" अब कहो"देखो! ज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव हो जाता है, विशेष को हमारे यहाँ पर्याय माना है और उस पर्याय का अभाव होता है, गुण का अभाव कभी होता नहीं। गुण त्रैकालिक होता है, हमारी बात भी आपको माननी चाहिये।"

यदि मित्रता के इस माहौल में आप उसे ले जाओगे धीरे-धीरे अनेकान्त के पास तो उसकी आँखें खुल सकती हैं। एक साथ सब कुछ करना चाहो तो आपकी कोई सुनेगा नही"यह वैसे ही हुण्डावसर्पिणी काल है, अनेकान्त के माध्यम से यही तो समझाया गया है।

अनेकान्त की प्ररूपणा के लिए सहायक है नयवाद। जो कोई भी नीति है, अनीति है; ध्रुव है, अध्रुव है; जितने भी विकल्प जाल हैं, वे सब-के-सब नयाश्रित हैं।

भगवान् ने जाना केवलज्ञान के द्वारा किन्तु प्ररूपणा जो की, वह की नयवाद के माध्यम से। द्रव्य श्रुत जो है वह दिव्यध्वनि मानी जाती है। मूल (आरीजनल) श्रुत वही दिव्यध्वनि है। उसके माध्यम से श्रुत का उद्भव बाद में हुआ है। तो मूल श्रुत वह है, उसका आलम्बन उनको भी लेना पडा। यद्यपि केवली 'अपगत श्रुत' माने जाते है, फिर भी उनको द्रव्यश्रुत का आलम्बन लेना पड़ता है। वे वचन योग के माध्यम से इसे लेकर द्वादशांग वाणी के स्रोत बन जाते हैं और उसमे उन्होने इस प्रकार की प्ररूपणा की है—'किसी की बात काटो मत, सब की सुनो, समझो और जहाँ पर थोडी गलती हो रही है, उसे सुधारने का प्रयास करो।' परेशानी तो यही है कि हम सुधारना नहीं चाहते, बनी हुई चीज को बिगाडना चाहते है, समाप्त करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हो गया कि हमने अनेकान्त का अमृत पिया ही नही और सामने वाले ने तो पिया ही नही है, यह स्पष्ट ही है। तो मतलब यह हुआ कि दोनो एक-से हो गये, हममें और उसमें कोई अन्तर ही नही रहा।

नय एक-एक धर्म के विश्लेषक है और धर्म एक ही द्रव्य में अनन्त माने गए हैं। "अनेकान्तात्मकं वस्तु" या "अनन्तधर्मात्मकम् वस्तु"। वस्तु नाना धर्मों को लिए हुए हैं। 'अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् विद्यन्ते इति अनेकान्तः' अनेक धर्म जिसमें समाविष्ट हैं, डाले नहीं गए

हैं, अनादि-अनिधन हैं किन्तु उनको जानने के लिए छद्मस्थ का ज्ञान समर्थ नहीं है। इसलिए उस ज्ञान से प्रत्येक धर्म का आंशिक ज्ञान तो हो सकता है किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इसलिए वस्तु कैसी है; नित्य है, अनित्य है; ऐसी है, वैसी है, इस प्रकार करते-करते प्ररूपणा करते रहो। प्ररूपणा करते-करते अनन्त की प्ररूपणा तो कर नहीं सकोगे तो आचार्य कहते हैं कि जितनी आवश्यकता है, उतनी ही प्ररूपणा हमने भी की है। केवलज्ञान के द्वारा जो कुछ देखा, जाना वह सब प्ररूपित नहीं है, प्ररूपण करने योग्य भी नहीं है। यह ध्यान रखना। केवलज्ञान द्वारा जो कुछ देखा गया, वह सबका सब यहाँ आ जाये तो वह अनन्त हो जाएगा पर श्रुत को अनन्त नहीं माना है, अनन्त का कारण अवश्य माना है। श्रुत अनन्त नहीं, असंख्यात है। जितने शब्द-भेद है, जितने विकल्प है, उतने ही श्रुत है। आगे श्रुत नहीं, उसका फल जो केवलज्ञान है उसे प्राप्त करना है। और यदि हम विकल्पों मे ही उलझे रहें तो केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो। **वाद-विवाद नहीं अपितु निर्विवाद होने के लिए, केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेकान्त का अवलंबन लिया गया है।**

ध्यान रहे! अनेकान्त कोई वाद नहीं है। अनेकान्त वस्तु है और उसका प्ररूपण करने वाला वाद है स्याद्‌वाद। अनेकान्त तो धर्म है, वस्तु में जो अनेक धर्म हैं, उनका प्ररूपण करने वाला जो श्रुत है वह एकान्त ही होता है, एक अंश को पकड़ने वाला, एक धर्म को पकड़ने वाला और उसे व्यक्ति को समझने का प्रयास करने वाला, वह 'स्यात्' के साथ ही जुडता है। **वाद के पीछे एकान्त लगाओगे तो गलत हो जायेगा। वाद के पीछे तो स्यात् लगाओ "स्याद्‌वाद कहो, अनेकान्त धर्म कहो।"** अनेकान्तात्मक वस्तु को समझने के लिए नयो का वाद। स्याद्-वाद का अर्थ ही है कथंचित्‌वाद अर्थात् नयवाद। यह बहुत गूढ है, बहुत दुरूह है, इसको चक्र की उपमा दी गई है। मैं उस ओर आपका ध्यान ले जाना चाहता हूँ जब कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध हो रहा था, द्रोणाचार्य कौरवों की ओर हो गए। पाण्डव झुकने लगे, तभी अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु—जिसके लिए 'वीर' उपाधि लगती थी, कौरवों द्वारा निर्मित चक्रव्यूह में विजय-प्राप्ति की अभिलाषा से प्रवेश कर गया। वह प्रवेश तो कर गया क्योंकि प्रविष्ट होने का ज्ञान तो उसे

था पर निकलने का नहीं……। ठीक ऐसा ही आज भी हो रहा है। अनेकान्त का, स्याद्वाद का सहारा ले तो लेते हैं लेकिन बोझ ऐसा हो जाता है कि सिर यूँ यूँ (हिलने-चकराने की मुद्रा) करने लग जाता है और गिर जाता है और इस तरह विजय पताका फहराकर कोई नहीं आ पाता।

अनेकान्त का सहारा लेकर स्याद्वाद के माध्यम से प्ररूपणा करने वाला व्यक्ति बहुत ही धीर-गम्भीर होता है, समीचीन दृष्टि वाला होता है। वह निर्भीक होता है लेकिन ध्यान रखना निर्दयी कदापि नही होता। **निर्दय होना और निर्भीक होना एक बात नहीं है।** "महाराज! आप बहुत जोर से बोलते है, इसलिए कषाय तो आपको होती होगी।" "नही! क्योंकि सही बात जो है वह जोर से ही कही जाती है और एक बार ही नहीं कही जाती बार-बार, अनेक बार कही जाती है। असत्य को दुहरा-दुहरा कर जब हजार बार कहा जा रहा है तब सत्य को भी कम-से-कम तीन बार तो कहना ही चाहिए। मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि दो-तीन बार तो कहना ही चाहिए, इससे प्रेशर बढ़ता है, बल मिलता है। उस तथ्य में एक तरह से प्रभुत्व की गरिमा आ जाती है और उसे कहना ही चाहिए। ऐसे कहते हुए भी वह होश नहीं खोता और चूंकि होश नही खोता इसलिए वहाँ पर रोष नही होता, जोश अवश्य होता है, पसीना भले ही आ सकता है।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने एक परिभाषा दी है, अपने को अभी तक ज्ञात नही थी। सक्लेश परिणाम किसे कहते हैं? आप कहेंगे—संक्लेश परिणाम वही है जिसमे कषाय का विकास हो जाए, उद्रेक हो उठे, जल्दी-जल्दी बोलने लगे, जोर-जोर से बोलने लग जाए। पर नही, नहीं....कषाय के साथ संक्लेश परिणामों का कोई अविनाभाव सम्बन्ध नही है। यह कैसे? यदि कषाय के साथ संक्लेश परिणामों का अविनाभाव सम्बन्ध होता तो कषाय के विकास के साथ-साथ साता वेदनीय का बन्ध नहीं हो सकता था। वीरसेन स्वामी कहते है—"ण कसाय-उड्ढी असादबंधकारणं, तक्काले सादस्स वि बंधुवलंभा।"[1] अर्थ यह

1 धवला पुस्तक ६, पृ० १८२ "कषायों की वृद्धि होने पर भी वही सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है तथा कषायों की हानि होने पर भी छठे गुणस्थान तक असाता का बन्ध होता रहता है अतः कषाय वृद्धि को सक्लेश का लक्षण नहीं माना जा सकता। (विशेषार्थ, ६/१८२)

हुआ कि जितनी कषाय करेंगे उतना साता वेदनीय का बन्ध होगा। इसलिए आप लोग कषाय करना प्रारंभ कर दें,......नहीं......नहीं; ऐसा मत करना। कषाय करने की भी एक युक्ति है। **कषाय का अर्थ निर्दय या क्रूर परिणाम ही नहीं है। लेकिन जिस समय बलपूर्वक कोई सही-सही बात कही जाती है, उस समय लेश्याओं में अन्तर आ जाता है और निर्भीकता के साथ जो सिंहगर्जना है उसके बिना सामने वाला व्यक्ति सही मार्ग पर आ नहीं सकता।**

"वादार्थी विचराम्यहं नरपते! शार्दूलविक्रीडितम्"

समन्तभद्र की बात बडे मार्के की है। वे कहते है कि मैं सिंह के समान आया हूँ। सिंह के स्वभाव के बारे में आपकी जानकारी होनी चाहिए। सिंह मनुष्य की तुलना में महान् दयावान प्राणी है। प्रायः बोलचाल में लोग कहा करते हैं कि वह सिंह के समान क्रोधी है अथवा सिंह के समान क्रूर है, निर्दयी है। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि कर्म सिद्धान्त के अनुसार सिंह अधिक क्रूर है या मनुष्य उससे अधिक क्रूर। कर्म सिद्धान्त कहता है कि सिंह यदि अधिक-से-अधिक भी मान करता है, क्रोध करता है, लोभ करता है तो वह फलस्वरूप, पंचम नरक तक जा सकता है, इससे आगे नही, परन्तु सामने जो कोई भी मनुष्यरूपेण सिंह बैठे हुए है, वे यदि कर लें तो सप्तम नरक का भी उद्घाटन कर सकते हैं; यह नियम है। आप समझिये कि अनेकान्त किसे कहते हैं। हम यदि कषाय करें तो सप्तम नरक के योग्य कषाय भी कर सकते हैं और सिंह यदि अपने जीवन में तीव्र कषाय भी करे तो वह पंचम नरक तक ही जा सकेगा क्योंकि उस पर्यायगत कुछ कमियाँ है।

'मनुष्य' और 'मानव' ये शब्द बने हैं 'मनु' से। मनु अर्थात् कुलकर, हमारे लिए वृषभदेव भगवान् ही कुलकर हैं, उनके अनुरूप चलने वाले का नाम ही मनुष्य है, मानव है। फिर भी वह यदि इतना क्रोध करता है तो उसे मानव नहीं दानव का शिष्य कहो। वह तिर्यञ्च होकर भी पंचम पृथ्वी तक जाये और यह मनुष्य होकर भी सप्तम पृथ्वी तक जाए, यह अनेकान्त का कहना है।

प्रत्येक धर्म अनन्त शक्ति लिये बैठा है वस्तु में, उसको समझना चाहिए। **अतः दूसरों का विरोध करने की आदत छोड़िए, कोई कुछ**

कहे उसे सर्वप्रथम मंजूर करो। कैसे करो मंजूर? 'कि हाँ भाई, आपका कहना भी ठीक है। "भी" का अर्थ अनेकान्त और "ही" का अर्थ एकान्त। 'भी' का अर्थ कथंचित् उसका स्वागत और 'ही' का अर्थ है उसके अस्तित्व पर ही पानी फेर देना। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण है। जो 'अस्तित्व गुण' को ग्रहण नहीं करता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के पास जो अस्तित्व है, उसे नकार देता है, उससे इन्कार कर देता है तो ध्यान रहे, उसके पास सम्यग्दर्शन रह कैसे सकता है? द्रव्य पर श्रद्धान रखने वाला मात्र अपने आत्मा पर ही तो श्रद्धान नहीं रखता, उसके लिए आत्म-द्रव्य की भाँति शेष जो अन्य द्रव्य है, उन पर भी तो श्रद्धान करना आवश्यक होता है। वे भी अपने अस्तित्व को लिये हुए है, उन पर भी तो श्रद्धान आवश्यक है।

स्याद्वाद को समझने के लिए नयों की व्यवस्था की गई है। नयों के बिना हम समझ नही सकते। 'नय' शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है जो ले जाता है नयति इति नय:। कहाँ ले जाता है? एकान्त की ओर… नही, अनेकान्तात्मक वस्तु की ओर ले जाता है और कोई एक नय इसके लिए सक्षम नही है। "नय एव नयनं" नय ही नयन अर्थात् आँख है। आँख सभी के पास है, लेकिन कितनी है? …एक? (श्रोताओं की ध्वनि) …नही दो। तो फिर नय एक कैसे हो सकता है–आँख दो है तो आवश्यक है कि नय भी दो हों। अर्थ यह हुआ कि झगडा वहाँ उत्पन्न होता है जब दोनो आँखें आपस मे लड़ती है और तब आत्मा को दुःख हो जाता है।

यह आँख (दाहिनी) इस ओर जो वस्तु पड़ी है उसको देखती है और यह आँख (बायी) इस ओर जो वस्तु पड़ी है उसको देखती है और सामने दोनों देखती है। आप नाक पर एक दीवार खीचकर पार्टीशन बना लो और देखो, किस ओर जा रही है कौन-सी आँख? (आप इसका अभ्यास घर जाकर करना और सोचना, यहाँ आपका समय समाप्त हो जाएगा, अभी इस समय का सदुपयोग कर लें) तो जिस समय इस ओर पड़ी वस्तु को जो आँख देखती है, वह वस्तु उस समय दूसरी आँख का विषय नहीं बनती; इसलिए उस समय वह आँख कहती

है तुम थोडी देर-पाँच मिनट देख लो, इसके बाद मैं तुम्हारी सहयोगिनी बन जाऊँगी और यूं कहते ही वह आँख यहाँ पर आ जाती है पर ···पर यहाँ पर झगडा है क्योंकि दीवार है। एक आँख का दूसरी आँख के साथ झगडा है, वह नही आ सकती क्योंकि पार्टीशन बना है। लेकिन यहाँ पर आकर रुक जाती है और यह आँख जब काम कर लेती है तो वह दूसरी आँख से कह देती है, उस ओर क्या है? तुम भी देख लो और वह इधर आ जाती है। यदि एक यह कहे कि मै तो इधर देख लूं और दूसरी कहे कि मै उधर देख लूं तो फिर माथे में दर्द होने लग जाएगा। देख लेना, आप इसे स्वय करके। एक बात और ···आँखो के द्वारा वस्तु को देखना है तो एक आँख को बन्द करके ही देखा जाता है, दूसरी आँख को गौण करना होता है। यह बात कहूँ तो आपको ताज्जुब नही होना चाहिए। तीन-चार दिन पूर्व ही आँगन में पण्डितजी को कुर्सी पर बिठा कर आई स्पेशलिस्ट (नेत्र विशेषज्ञ) डाक्टर ने कहा था–"पण्डितजी! एक आँख हाथ से बन्द कर लीजिए।" पण्डितजी ने उस आँख पर हाथ धर लिया। थोडी देर बाद उसने कहा–"अब इसे खोल दीजिए और दूसरी आँख बन्द कर लीजिए···"। यह सब क्या है? पण्डितजी को दोनो आँखो से देखना चाहिए, अच्छा देखने मे आ जाए, लेकिन डाक्टर का निर्णय ही सही है। एक आँख की क्रियाशीलता से ही वह समीचीन परीक्षण कर पाता है, दोनो आँखो के माध्यम से सही निर्णय नही हो पाता क्योंकि कितनी दूर इसकी दृष्टि जा रही है, यह एक आँख की क्रियाशीलता के माध्यम से ही सही-सही परखा जा सकता है। अर्थ यह हुआ कि एक आँख काम नही करती, निष्क्रिय रहती है। एक बात और, गूढ अर्थ एवं सुदूर के पदार्थ को देखते समय भी आप एक आँख बन्द कर, एक आँख से ही देखते हैं ताकि वह प्रकाश आँख पर न पड जाए।

नय जो है यह बहुत कमजोर है, इसके माध्यम से समग्र वस्तु का ग्रहण नही हो पाता, इसलिए मुख्य रूप से दो नयो की व्यवस्था है और वे हैं व्यवहार नय और निश्चय नय। **व्यवहार नय का अर्थ है विश्व-कल्याण और निश्चय नय का अर्थ है आत्म-कल्याण।** निश्चय नय, निश्चय नय रटते-रटते आत्म-कल्याण तो कर ही नही रहे है और निश्चय नय के माध्यम से विश्व-कल्याण आप तीन काल मे भी कर

नहीं सकते, यह ध्यान रखना। निश्चय नय के माध्यम से तो केवलज्ञानी सर्वप्रथम आत्मज्ञ हुए और बाद मे 'वीतराग विज्ञान' के माध्यम से उन्होंने कहा 'निश्चय नय का अवलम्ब ले मैंने आत्मा को जाना, माना और उसमें रमण किया। निश्चय नय के माध्यम से आत्मा का कल्याण हो सकता है, विश्व का नही।' और हमे एक तरह से यह भी सिद्ध करना है कि भगवान् ने विश्व-कल्याण भी किया" तो उन्होंने किस माध्यम से विश्व का कल्याण किया? स्पष्ट है"' उन्होने व्यवहार नय के माध्यम से कल्याण किया है और व्यवहार के माध्यम से विश्व का कल्याण किसी एक का कल्याण तो है नही।

उन्होंने कहा—**देखो! जो व्यवहार नय को नहीं मानोगे तो तीर्थ का उच्छेद हो जाएगा और निश्चय नय को नहीं मानोगे तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकेगा।** जिसको आत्मा का कल्याण करना है उसे चाहिए कि दुनिया के सारे गोरख-धन्धे छोड़ कर मुनिव्रत धारण कर ले। अवसर बहुत अच्छा है। विश्व का क्या होगा, यह दुश्चिन्ता निश्चय नय मानने वाले को होनी ही नही चाहिए। विश्व का क्या होगा—यह देखने का उत्तरदायित्व उनका है जो विश्वलोचन हो गए है, सभी पदार्थों को देखने-जानने की क्षमता आ गई है जिनमे। किसी का कल्याण किसी पर निर्भर नही है।

भगवान् ने निश्चय से अपनी आत्मा को अपनी आत्मा मे रह कर बिना किसी सहारे के जाना है। हमें भी अपनी आत्मा को जानना और देखना है। इसलिए उन्होने दो नयो का कथन कर 'व्यवहार नय' को पर के लिए रखा और 'निश्चय नय' को अपने लिए। इस तरह **स्व-पर के भेद-विज्ञान के माध्यम से प्रमाण की ओर बढ़ा जाता है।**

एक नदी के तट पर मैं एक बार गया था। बहुत सुहावना दृश्य था। नदी बह रही है, निर्बाध गति से, लहरे नही हैं, नदी शान्त है, शीतल समीर प्रवाहित हो रहा है। नदी की ओर देखना बन्द कर तट की ओर दृष्टिपात किया तो विचार आया—ओ हो! नदी कोई चीज अलग है और तट कोई अलग चीज है। दो तटो-कूलो के बीच बहने वाली नदी है। एक ओर का कूल दूसरी ओर के कूल के लिए तो प्रतिकूल ही है अनुकूल नहीं। एक की दिशा दक्षिण की ओर है तो

दूसरे की उत्तर की ओर, एक की पूर्व की ओर है तो दूसरे की पश्चिम की ओर। दोनों पृथक्-पृथक् है। कभी मिलेंगे भी नहीं, मिल भी नहीं सकते। रेखागणित-ज्योमट्री में बताया है कि समानान्तर रेखाएँ वस्तु की समीचीनता को बताती रहती है लेकिन वे मिलती नही है। यह ध्यान रहे कि वे दोनो रेखाएँ मिल जाएँ तो बीच की वस्तु साफ हो जाए : इतना ही नहीं यदि दोनो रेखाएँ अपना पथ छोड़ कर किंचित् भी इधर-उधर हो जाएँ तो भी वस्तु असमीचीन हो जाए, समीचीन न रहे। परन्तु बन्धुओ ? एक कूल दूसरे कूल के लिए प्रतिकूल होकर भी नदी के लिए तो अनुकूल ही है, **दोनों कूल परस्पर प्रतिकूल होकर भी नदी के लिए अनुकूल हैं। इसी तरह व्यवहार नय, निश्चय नय के लिए और निश्चय नय व्यवहार नय के लिए अनुकूल न होकर भी प्रमाण के लिए तो अनुकूल हैं····और प्रमाण····प्रमाण तो नदी है।**

जिनेन्द्र भगवान् की वह दिव्य-ध्वनि हम लोगो के लिए प्रमाण है और जो निश्चय नय या व्यवहार नय को लेकर लड रहे है, वे नदी को समाप्त कर देगे, अभी साढे अठारह हजार वर्ष शेष है अभी पानी बहुत पीना है, बहुत पिपासा है, बडी तृषा है, गहरी प्यास है। हाँ, यह बात अलग है कि इस तरह के लोग भी आयेंगे तो उनके लिए हम विशेष रूप से प्रयास करेगे। दोनो तटो को सुदृढ़ बनाएँगे, इतना मजबूत बनायेंगे कि नदी अबाध रूप से, अनाहत गति से बहती चली जाए। महावीर भगवान् की दिव्य-ध्वनि, एक प्रवहमान निर्झर के समान है, आप उस शीतल वाणी का पेय पीकर तृप्त हो ले। तट कुछ भी नही है परन्तु तट के बिना शीतल सुस्वादु पानी भी नही है। एक तट विच्छिन्न हो जाता है तो नदी का पानी छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाता है। इसलिए दोनो की रखिए और उन नयो को भूल कर उस प्रमाण मे अवगाहन कीजिए जिसमे आत्मानुभूति सम्भाव्य है।

नयो के चक्कर मे पड कर ही यह ससारी प्राणी ३६३ मतो का सेवन करता जा रहा है, यह बात अलग है, कोई इस तट का करता है। कोई उस तट का करता है। मात्र तट की ही सेवा करने वाला कभी पानी नही पी सकेगा, हम तो कहते हैं कोई अनादिकालीन प्यासा व्यक्ति है वह सीधा डूबकी लगाये लेकिन तट में कभी डुबकी

लगा नहीं सकता। तट पर बैठ कर देखने की आवश्यकता होती है, यह ठीक है। बिना तट के उस नदी को हम देख नही सकते, इसलिए उस तट की प्रशंसा करनी चाहिए। तो कब तक कर रहे हो? और एक ही तट की प्रशंसा क्यों कर रहे हो? इधर से कोई आया है तो इस तट की प्रशंसा करेगा, उधर से आने वाला उस तट की प्रशंसा करेगा लेकिन तट पर बैठेगा नही और डूबेगा तो तट नहीं मिलेगा, गहराई मिलेगी जहाँ बस आनन्द ही आनन्द मिलेगा। डुबकी लगा रहा हूँ, मुझे आनन्द हो रहा है, कोई कुछ कह दे तो कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—उस ओर मत देखो, उधर देखोगे तो तट की ओर चले जाओगे और पीना बन्द हो जाएगा। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने एक स्थान पर पाप-पुण्य अधिकार मे यह उल्लेख किया है—

नय दो है मुख्य रूप से निश्चय और व्यवहार, और जो व्यक्ति व्यवहार नय के माध्यम से उलझन में फँस जाते है, क्रियाकाण्ड मे फंस जाते है, वे आत्मानुभूति से वंचित रह जाते है; वे डूब जाते हैं ममता के महान् समुद्र मे और जो निश्चय नय का महत्त्व क्या है, यह नही समझ पाते, मात्र निश्चय! निश्चय!! रटते चले जाते है वे भी डूब जाते है, जिनको उन्होंने कहा है—"ज्ञाननयैषिण"[1] जो ज्ञान को भी एकान्त रूप से मानकर चले जाते है, वे भी डूब जाते है। जो इन दोनों को जान कर भी असयमी रह जाते है वे भी डूब जाते है तो भगवन्! फिर तैरते कौन हैं? तो अन्तिम चरण मे वे कहते हैं जो अप्रमत्त है वह तैर रहा है; जो प्रमत्त है वह डूब रहा है।

[2]"ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय, निश्चयवादी भी डूबे,
क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे।
प्रमत्त बन कर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे,
आत्मध्यान मे लीन, किन्तु मुनि तीन लोक पे तैर रहे॥"

यहाँ पर आचार्य द्वारा प्रयुक्त प्रमत्त शब्द यह इंगित कर रहा है कि प्रमाद के ही फलस्वरूप यह जीव इधर-उधर भटकता रहा है; प्रमाद एक ऐसा प्रत्यय है जो बाहर भटकाता है, आत्मा के लिए

१. समयसार कलश, १११
२. निजामृतपान, १११

आत्मा की ओर जाने में एक प्रकार का व्यवधान उपस्थित कर देता है। बन्धुओ! इस प्रमाद को हटाओ। प्रमाद अर्थात् "कुशलेषु अनादरः एव प्रमादः"। प्रमाद का अर्थ विकथा आदि मात्र ही नहीं; पर हाँ वह इनका आलम्बन नही लेगा, यह बात अलग है; लेकिन मात्र इतने से ही अपने को, निष्प्रमादी समझने लग जाओगे तो भी बात बनेगी नही। भीतर जो आत्म-तत्त्व के प्रति तनिक-सा भी आलस्य आ जाता है, उसका नाम प्रमाद है। जिसमें हमारा हित निहित है उसके प्रति किसी भी प्रकार की आलस्य-प्रवृत्ति की संज्ञा प्रमाद है। अनादिकाल का यह प्रमाद प्रत्यय हम लोगों का हटा नहीं, मिटा नहीं।

"स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया, दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवाऽऽत्मविशुद्धवर्त्मनि ॥[1]"

हे भगवन्! आपने गजब का काम किया! क्या किया! देखो, रात-दिन यह ससारी प्राणी कहाँ फँसा हुआ है, कहाँ अटका हुआ है— 'स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया' अर्थात् इन्द्रियो के सुख की तृष्णा से पीडित होकर दिन मे तो नाना प्रकार परिश्रम करके थक जाता है और रात्रि होने पर बिस्तर पर ऐसा गिर जाता है जैसा कि मुहावरे मे कहा है कि—घोडे बेच कर सोता है। उसे होश भी नही रहता। किन्तु रात भर सोकर जब पेट पुन खाली हो जाता है तो फिर उठता है और फिर वही क्रम शुरू हो जाता है—ऐसा करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। समन्तभद्राचार्य ने शीतलनाथ भगवान् की स्तुति करते-करते हम प्रमादियो को अच्छी गाली दी है। ससारी प्राणी जो प्रमादी है उसकी दिनानुदिन यही स्थिति है चौबीसो घण्टे, बारहों महीने। यह जीव अनन्तकाल से प्रमाद करता आया और यदि मनुष्य की उत्तम पर्याय पाकर भी यही सब करता रहेगा तो फिर डूब जाएगा ममता के अथाह सागर में और फिर "काल अनन्त निगोद मँझार" पुन निगोद मे चला जाएगा अनन्तकाल के लिए। दो हजार सागर मात्र इस पर्याय के लिए मिला है, कोई भी हो इसके बाद उसे निगोद मे जाना होगा, अपने किए कर्मों का फल भोगना पडेगा। यदि इस (२००० सागर) काल के बीच वह अच्छा काम करता है तो वह

१. स्वयम्भूस्तोत्र . श्री शीतलनाथ जिनस्तुति, ४८

केवलज्ञान की भी उपलब्धि कर सकता है, अप्रमत्त यदि बनता है तो। अप्रमत्त अवस्था का अर्थ ही यही है कि "आत्मविशुद्धवर्त्मनि अजागरेव" "हे भगवन्! आप आत्मा को शुद्ध करने वाले मोक्ष मार्ग में जागते ही रहे रात-दिन।"

मैं यही कहना चाहूँगा कि वस्तु अनेकान्तात्मक है, अनेकान्त को वाद मत बनाओ, किन्तु समीचीनवाद यदि कोई है तो वह है स्याद्-वाद। और यही नही, स्याद्वाद है जो सब वादो को खुश कर देता है; खुश्क मत करो खुश करो। जो कोई भी एकान्त को पकड़े हुए है, कम-से-कम उसने पकडा तो है कुछ, कुछ भी नहीं पकडा ऐसा तो है नही; एकान्त को पकड़े है एक हाथ में तो दूसरे हाथ मे जो कुछ देना है उसे दे दो। पहले वाले को फेंको क्यो?

एक व्यक्ति युद्ध क्षेत्र में जा रहा है और मात्र तलवार लेकर खडा हो गया तो आप कहने है उसे—"तू गलत है। रण में जाने की तुझे कोई बुद्धि नही है, विवेक नही है; तुझे विजय प्राप्त नही हो सकेगी।" मैं पूछता हूं आपसे—इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है? उससे कहो—"भइया! आपने तलवार ले ली, बहुत अच्छा किया, तलवार ली है, तलवार के द्वारा दूसरे पर तो प्रहार किया जा सकता है, विजय भी प्राप्त की जा सकती है लेकिन आत्म-सुरक्षा तो नही की जा सकती अत: एक ढाल और ले लो।"

निश्चय नय ढाल है, आत्मा की सुरक्षा करता है और व्यवहार नय तलवार है जो दूसरों को फेकता है। और आप लोग निश्चय नय को ले रहे है दूसरो से बोलने के लिए। निश्चय नय के माध्यम से आप दूसरो को हटा नही सकोगे क्योकि व्यवहार नय मेजोरिटी (बहुसख्या) मे है; क्योंकि जितने भी विकल्प है, वे सबके सब व्यवहार हैं और निश्चय क्या? केवल आत्मा! अत: आत्मा की सुरक्षा को भुला कर यदि तलवार आपके हाथ में है तो वह कभी विजयी नही बना सकेगी। आत्म-सुरक्षा के लिए 'निश्चय' रखो और दूसरे के लिए—उसे समझाने के लिए 'व्यवहार' को अपनाओ। तलवार और ढाल—इन दोनों का युग्म है, एक समन्वय है! दोनों से सज्जित सैनिक ही अपने बाहुबल से विजय प्राप्त कर सकता है और करता है। यह ध्यान रहे—जिसके

पास ढाल है वह आत्मा की सुरक्षा करते हुए बचता जाएगा कषायों और विषयों से और जिनको छोड़ना है, जिन्हें तोड़ना है, उन्हें वह तलवार के माध्यम से हटाता चलेगा। व्यवहार नय को फेंको मत लेकिन निश्चय नय को साथ लिये बिना व्यवहार नय कार्यकारी नही। आत्म-कल्याण निश्चय नयाश्रित है। **केवलज्ञान—मात्र व्यवहार नय का आश्रय लेने वाले को तीन काल में भी उत्पन्न नहीं होगा····नहीं होगा···· नहीं होगा। किन्तु साथ ही, व्यवहार नय के माध्यम से जब तक समता धारण नहीं करेगा तब तक निश्चय नय का विषय वीतराग विज्ञान भी नहीं मिलेगा····नहीं मिलेगा···· नहीं मिलेगा।**

अब इसके आगे और क्या कहूँ भैया! आपका एक घण्टा पूरा हो गया। हम तो यही कहना चाहते है कि अपने विवेक को जाग्रत रखो। जो षड्-दर्शनों का आप अध्ययन करो तो आपको ज्ञात हो जाएगा कि अनेकान्तात्मक वस्तु क्या है! जब 'अष्टसहस्री' और 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' मै पढ रहा था महाराजजी (पू० आ० ज्ञानसागरजी) के पास तो वे शकित थे कि यह इसमे सफलीभूत होगा अथवा नही, किन्तु वह मात्र आशंका ही सिद्ध हुई। इसमे कोई सन्देह नही कि जिस व्यक्ति के समता आ जाएगी, वह सारे-के-सारे विरोधी प्रश्नो को पचा जाएगा और उनके लिए सही-सही उत्तर देने मे सक्षम हो जाएगा। समता के बिना ममता के साथ यदि प्रमत्त दशा मे जीवन-यापन करोगे तो विजय-श्री का वरण नही कर सकोगे। वह समय था भगवान् वीर के जमाने में जब अनेकान्त की प्रशसा होती थी लेकिन आज अनेकान्त को मानने वाले स्याद्वाद के अभाव मे परस्पर लड रहे है। जैनेतर भाई पूछते है कि "भैया! आपके पास तो एक ऐसा अचूक नुस्खा है कि आप हमारी समस्या को भी निपटा देते थे लेकिन आज आप आपस मे क्यो झगड रहे है?" यह विस्मय की बात है इसलिए समता धारण करो। यदि कोई व्यक्ति एकान्त पकड लेता है तो कुछ भी नही होता बन्धुओ! उससे कुछ भी होने वाला नही है। आपका यदि वीतराग भाव है तो अवश्य उस पर प्रभाव पड सकता है। धीरे-धीरे यदि आप उसको समझना चाहोगे तो उसके गले उतर सकता है किन्तु स्याद्वाद के बिना गला तो उतर सकता है मगर गले नही उतर सकता। स्याद्वाद का अर्थ

"मेरा ही सही" ऐसा नहीं है। "तेरा भी कथंचित् सही" ऐसा है। 'ही' से 'भी' की ओर...यह स्याद्वाद का लक्ष्य है।

६ के आगे ३ हों तो होंगे ६३ और ३ के आगे ६ हों तो होंगे ३६। ३ के आगे ६ होने की स्थिति में अनेकान्तात्मक वस्तु मिट जाती है, स्याद्वाद समाप्त हो जाता है। और जब ६ और ३ एक दूसरे की ओर मुँह किए रहते हैं तो मिलन की स्थिति बनती है, पीठ दिखाने की नही। स्याद्वादी पीठ नही दिखाता किसी को। पीठ दिखाने का अर्थ है घृणा, उपेक्षा। आप ऐसा करेंगे तो वह भी आपकी ओर पीठ कर देगा और मजा कुछ नही आएगा। एक दूसरे की ओर मुख किए ६ और ३, ६३ शलाका पुरुषो के प्रतीक हैं और ६३ शलाका पुरुष वर्तमान मे यहाँ है नही, इस पचम काल में आएँगे भी नही अतः ३६३ मतों को यदि सन्तोष धारण करा सकते है तो समता के माध्यम से ही करा सकते हैं इसके बिना नही। **ज्ञान ही अपने लिए हितकारी है और ज्ञान ही अपने लिए अहितकारी है। एकान्त को लिए हुए जो ज्ञान है वह अहितकारी सिद्ध होगा और जो अनेकान्तात्मक ज्ञान है, वह हमारे लिए हितकारी है।** अनेकान्त को मानने वाले जैन लोग हैं। एक व्यक्ति ने सुझाया था कि 'जैन' शब्द की अपेक्षा 'जैनी' शब्द ठीक है। JAINI क्यो ?, जैन JAIN शब्द मे एक I आई (eye) अर्थात् आँख, तो जैन कहते ही एक आँख हो जाए तो एकाक्ष—काणा हो जाएगा। जैनी JAINI कह दो तो दो आई I(eye) हो जायेंगे, डबल आई का अर्थ हुआ अनेकान्त को मानने वाला, दूर दृष्टि रखने वाला। आप लोगों को एक दृष्टि से काम लेने की आदत पडी हुई है, दो आँखे—दो नय हैं। दो नयो के माध्यम से हम प्रमाण को समीचीनता-पूर्वक आत्मसात् कर सकते हैं, पचा सकते हैं अन्यथा तीन काल में भी हम न तो अनेकान्त की प्रशसा कर पायेंगे और न उसकी प्रभावना ही कर पायेंगे तब फिर आत्म-कल्याण कैसे होगा। इसलिए बार-बार मेरा कहना यही है कि सब वादों से—जितने भी वाद हैं, विवाद है—सवाद रखो। **अनेकान्तात्मक जो स्याद्वाद है उसी के माध्यम से कल्याण होने वाला है। आगे भी इसी से होगा, अभी हो रहा है और पहले भी इसी से हुआ है। यह त्रैकालिक सत्य है, तथ्य है।** स्याद्वाद के माध्यम

से वस्तु स्थिति को समझ लो, इसके उपरान्त स्याद्वाद गायब फिर अनेकान्त धर्म रह जाता है। वस्तु स्थिति की सही समझ होने पर उस वस्तु के माध्यम से सुख की प्राप्ति होगी। सुख चाहते हो तो ऐसा करो और यदि नही चाहते तो डू ऐज यू लाइक (Do As You Like) (जैसा चाहो वैसा करो)।

महावीर भगवान् की जय !